हिंदी पाठ संचयन

अनिवार्य हिंदी भाषा

[बी०ए०, बी० एससी० और बी० काम० के विद्यार्थियों के लिए]

कलकत्ता विश्वविद्यालय

कलकत्ता

प्रथम संस्करण : १९९८

प्रकाशक :
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता-७३

Price : Rs. 35.00

मुद्रक :
कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस
द्वारा 'प्रदीप कुमार घोष', सुपरिन्टेन्डेन्ट

HINDI PATH SANCHAYAN
Aniwarya Hindi Bhasha

भूमिका

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने बी.ए., बी. काम. और बी. एससी. के विद्यार्थियों के लिए 'अनिवार्य हिंदी भाषा' के प्रस्तुत संकलन को अपनी स्वीकृति दी है । यह संकलन इस उद्देश्य से तैयार किया गया है कि स्नातक स्तर पर शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थी हिंदी भाषा और साहित्य का आवश्यक ज्ञान अर्जित कर सकें । उनका भाषा-संस्कार विकसित हो तथा एक साहित्यिक पृष्ठभूमि भी तैयार हो।

हिंदी इस देश की एक प्रमुख राष्ट्रीय भाषा है । हिंदी के विकास में बंगाल का सदा से एक महत्वपूर्ण योगदान रहा है । हिंदी का जितना साहित्यिक महत्व है, उतना ही संपर्क भाषा और कार्यालयीन व्यवहार की भाषा के रूप में भी । प्रस्तुत संकलन इस दिशा में विद्यार्थियों के लिए उपयोगी होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

अनिवार्य भाषा शिक्षा के उद्देश्य से तैयार किए गए संकलनों के लिए **'पश्चिम बंगाल कालेज और विश्वविद्यालय शिक्षक संघ'** ने समय-समय पर जो दिशा-निर्देश दिया, इसके लिए हम उसके आभारी हैं । बंगला, उर्दू, नेपाली और अंगरेजी के संकलनों की तरह हिंदी के इस संकलन पर भी **बोर्ड आफ स्टडीज** के माननीय सदस्यों ने अपनी राय दी और इसे स्वीकृत किया, इसके लिए हम सभी सदस्यों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं ।

और अंत में डॉ० **शंभुनाथ** और डा० रामनाथ तिवारी के प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने बड़ी मेहनत और सूझबूझ से इस संकलन को तैयार किया ।

डा० प्रताप रंजन हाजरा
अध्यक्ष
बोर्ड आफ स्टडीज, अनिवार्य भाषा

बोर्ड आफ स्टडीज के माननीय सदस्यगण

डा० प्रताप रंजन हाजरा (अध्यक्ष)

डा० मनीलाल खान

डा० शंभुनाथ साव

श्रीमती पर्ना घोष

श्री शक्तिनाथ झा

श्री विश्वनाथ मांझी

डा० रामनाथ तिवारी

डा० रवीन्द्रनाथ बंदोपाध्याय

श्री प्रताप नारायन विश्वास

अनुक्रम
निबंध और रेखाचित्र

पारिभाषिक शब्दावली

कविताएं

कहानियां

भय

रामचंद्र शुक्ल

किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तब्धकारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं। क्रोध दुःख के कारण पर प्रभाव डालने के लिए आकुल करता है और भय उसकी पहुँच से बाहर होने के लिए। क्रोध दुःख के कारण के स्वरूप-बोध के बिना नही होता। यदि दुःख का कारण चेतन होगा और यह समझा जाएगा कि उसने जान-बूझकर दुःख पहुंचाया है, तभी क्रोध होगा। पर भय के लिए कारण का निर्दिष्ट होना जरुरी नही, इतना भर मालूम होना चाहिए कि दुःख या हानि पहुंचेगी। यदि कोई ज्योतिषी किसी गंवार से कहे कि 'कल तुम्हारे हाथ-पांव टूट जायेंगे तो उसे क्रोध न आएगा, भय होगा। पर उसी से यदि दूसरा आकर कहे कि 'कल अमुक-अमुक तुम्हारे हाथ-पैर तोड़ देंगे' तो वह तुरंत त्योरी बदलकर कहेगा कि 'कौन है हाथ-पैर तोड़ने वाले? देख लूंगा।'

भय का विषय दो रूपों में सामने आता है - असाध्य रूप में और साध्य रूप में। असाध्य विषय वह है जिसका किसी प्रयत्न द्वारा निवारण असंभव हो या असंभव समझ पड़े। साध्य विषय वह है जो प्रयत्न द्वारा दूर किया या रखा जा सकता हो। दो मनुष्य एक पहाड़ी नदी के किनारे बैठे या आनंद से बातचीत करते चले जा रहे थे। इतने में सामने शेर की दहाड़ सुनाई पड़ी। यदि वे दोनों उठकर भागने, छिपने या पेड़ पर चढ़ने आदि का प्रयत्न करें तो बच सकते हैं। विषय के साध्य या असाध्य होने की धारणा परिस्थिति की विशेषता के अनुसार तो होती है पर बहुत कुछ मनुष्य की प्रकृति पर भी अवलंबित रहती है। क्लेश के कारण का ज्ञान होने पर उसकी अनिवार्यता का निश्चय अपनी विवशता या अक्षमता की अनुभूति के कारण होता है। यदि यह अनुभूति कठिनाइयों और आपत्तियों को दूर करने के अभ्यास या साहस के अभाव के कारण होती है तो मनुष्य स्तंभित हो जाता है और उसके हाथ-पांव नहीं हिल सकते। पर कड़े दिल का या साहसी आदमी पहले तो जल्दी डरता नहीं और डरता भी है तो संभलकर अपने बचाव के उद्योग में लग जाता है।

भय जब स्वभावगत हो जाता है तब कायरता या भीरुता कहलाता है और भारी दोष माना जाता है, विशेषतः पुरुषों में। स्त्रियों की भीरुता तो उनकी लज्जा के

समान ही रसिकों के मनोरंजन की वस्तु रही है। पुरुषों की भीरुता की पूरी निंदा होती है। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत पुराने जमाने से पुरुषों ने न डरने का ठेका ले रखा है। भीरुता के संयोजक अवयवों में क्लेश सहने की अक्षमता और अपनी शक्ति का अविश्वास प्रधान है। शत्रु का सामना करने से भागने का अभिप्राय यही होता है कि भागने वाला शारीरिक पीड़ा नहीं सह सकता तथा अपनी शक्ति के द्वारा उस पीड़ा से अपनी रक्षा का विश्वास नहीं रखता। यह तो बहुत पुरानी चाल की भीरुता हुई। जीवन के और अनेक व्यापारों में भी भीरुता दिखाई देती है। अर्थ हानि के भय से बहुत व्यापारी कभी-कभी किसी विशेष व्यवसाय में हाथ नहीं डालते, परास्त होने के भय से बहुत से पंडित कभी-कभी शास्त्रार्थ से मुंह चुराते हैं। सब प्रकार की भीरुता की तह में सहन करने की अक्षमता और अपनी शक्ति का अविश्वास छिपा रहता है। भीरु व्यापारी में अर्थहानि सहने की अक्षमता और अपने व्यवसाय कौशल पर अविश्वास तथा भीरु पंडित में मानहानि सहने की अक्षमता और अपने विद्या-बुद्धि-बल पर अविश्वास निहित है।

एक ही प्रकार की भीरुता ऐसी दिखाई पड़ती है, जिसकी प्रशंसा होती है। वह धर्म-भीरुता है। पर हम तो उसे भी कोई बड़ी प्रशंसा की बात नहीं समझते। धर्म से डरने वालों की अपेक्षा धर्म की ओर आकर्षित होने वाले हमें अधिक धन्य जान पड़ते हैं। जो किसी बुराई से यही समझकर पीछे हटते हैं कि उसके करने से अधर्म होगा, अनकी अपेक्षा वे कहीं श्रेष्ठ हैं, जिन्हें बुराई अच्छी ही नहीं लगती।

दुःख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी संभावना मात्र के अनुमान से जो आवेग-शून्य भय होता है, उसे आशंका कहते हैं। उसमें वैसी आकुलता नहीं होती। उसका संचार कुछ धीमा पर अधिक काल तक रहता है। घने जंगल से होकर जाता हुआ यात्री चाहे रास्ते भर आशंका में रहे कि कहीं चीता न मिल जाय, पर वह बराबर चला चल सकता है। यदि उसे असली भय हो जाएगा तो वह या तो लौट जाएगा अथवा एक पैर आगे न रखेगा। दुःखात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति समझनी चाहिए, जो सुखात्मक भावों में आशा की। अपने द्वारा कोई भयंकर काम किए जाने की कल्पना या भावना मात्र से भी क्षणिक स्तंभ के रूप में एक प्रकार के भय का अनुभव होता है। जैसे, कोई किसी से कहे कि 'इस छत पर से कूद जाओ' तो कूदना और न कूदना उसके हाथ में होते हुए भी वह कहेगा कि 'डर मालूम होता है'। पर यह डर भी पूर्ण भय नहीं है।

क्रोध का प्रभाव दुःख के कारण पर डाला जाता है । इससे उसके द्वारा दुःख का निवारण यदि होता है तो सब दिन के लिए या बहुत दिनों के लिए । भय के द्वारा बहुत-सी अवस्थाओं में यह बात नहीं हो सकती । ऐसे सज्ञान प्राणियों के बीच जिनमें भाव बहुत काल तक संचित रहते हैं और ऐसे उन्नत समाज में जहां एक-एक व्यक्ति की पहुंच और परिचय का विस्तार बहुत अधिक होता है, प्रायः भय का फल भय के संचार-काल तक ही रहता है । जहां वह भय भूला कि आफत आई । यदि कोई क्रूर मनुष्य किसी बात पर आपसे बुरा मान गया और आपको मारने दौड़ा तो उस समय भय की प्रेरणा से आप भागकर अपने को बचा लेंगे । पर संभव है कि उस मनुष्य का क्रोध जो आप पर था उसी समय दूर न हो बल्कि कुछ दिन के लिए बैर के रूप में टिक जाय, तो उसके लिए आपके सामने फिर आना कोई बड़ी बात न होगी । प्राणियों की असभ्य दशा में ही भय से अधिक काम निकलता है जबकि समाज का ऐसा गहरा संगठन नहीं होता कि बहुत-से लोगों को एक-दूसरे का पता और उनके विषय में जानकारी रहती हो ।

जंगली मनुष्यों का परिचय का विस्तार बहुत थोड़ा होता है । बहुत-सी ऐसी जंगली जातियां अब भी हैं, जिनमें कोई एक व्यक्ति बीस-पच्चीस से अधिक आदमियों को नहीं जानता । अतः उसे दस-बारह कोस पर ही रहने वाला यदि कोई दूसरा जंगली मिले और मारने दौड़े तो वह भागकर उससे अपनी रक्षा उसी समय तक के लिए ही नहीं, बल्कि सब दिन के लिए कर सकता है । पर सभ्य, उन्नत और विस्तृत समाज में भय के द्वारा स्थायी रक्षा की उतनी संभावना नहीं होती । इसी से जंगली और असभ्य जातियों में भय अधिक होता है । जिससे वे भयभीत हो सकते हैं उसी को वे श्रेष्ठ मानते हैं और उसी की स्तुति करते हैं । उनके देवी-देवता भय के प्रभाव से ही कल्पित होते हैं, किसी आपत्ति या दुःख से बचे रहने के लिए ही अधिकतर वे उनकी पूजा करते हैं । अति भय और भयकारक का सम्मान असभ्यता के लक्षण हैं । अशिक्षित होने के कारण अधिकांश भारतवासी भी भय के उपासक हो गए हैं । वे जितना सम्मान एक थानेदार का करते हैं, उतना किसी विद्वान् का नहीं ।

चलने फिरने वाले बच्चों में, जिनमें भाव देर तक नहीं टिकते और दुःख-परिहार का ज्ञान या बल नहीं होता, भय अधिक होता है । बहुत-से बच्चे तो किसी अपरिचित आदमी को देखते ही घर के भीतर भागते हैं । पशुओं में भी भय अधिक पाया जाता है । अपरिचित के भय में जीवन का कोई गूढ़ रहस्य छिपा जान पड़ता है । प्रत्येक प्राणी भीतरी आंख कुछ खुलते ही अपने सामने मानों एक दुःख-कारण-

पूर्ण संसार फैला हुआ पाता है, जिसे वह क्रमशः कुछ अपने ज्ञानबल से और कुछ बाहुबल से थोड़ा बहुत सुखमय बनाता चलता है। क्लेश और बाधा का ही सामान्य आरोप करके जीव संसार में पैर रखता है। सुख और आनन्द को वह सामान्य का व्यतिक्रम समझता है; विरल विशेष मानता है। इस विशेष से सामान्य की ओर जाने का साहस उसे बहुत दिनों तक नहीं होता। परिचय अभ्यास के बल से अपने माता-पिता या नित्य दिखाई पड़ने वाले कुछ थोड़े से और लोगों के ही संबंध में वह धारणा रखता है कि ये मुझे सुख पहुंचाते हैं और कष्ट न पहुंचाएंगे। जिन्हें वह नहीं जानता, जो पहले-पहले उसके सामने आते हैं, उनके पास वह बेधड़क नहीं चला जाता। बिल्कुल अज्ञात वस्तुओं के प्रति भी वह ऐसा ही करता है।

भय की इस वासना का परिहार क्रमशः होता चलता है। ज्यों-ज्यों वह नाना रूपों में अभ्यस्त होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी धड़क खुलती जाती है। इस प्रकार अपने ज्ञानबल, हृदयबल और शरीरबल की वृद्धि के साथ वह दुःख की छाया मानो हटाता चलता है। समस्त मनुष्य-जाति की सभ्यता के विकास का भी यही क्रम रहा है। भूतों का भय तो अब बहुत कुछ छूट गया है, पशुओं की बाधा भी मनुष्य के लिए प्रायः नहीं रह गई है; पर मनुष्य के लिए मनुष्य का भय बना हुआ है। इस भय के छूटने के लक्षण भी नहीं दिखाई देते। अब मनुष्यों के दुःख के कारण मनुष्य ही हैं। सभ्यता से अंतर केवल इतना ही पड़ा है कि दुःख-दान की विधियां बहुत गूढ़ और जटिल हो गई हैं। उनका क्षोभकारक रूप बहुत से आवरणों के भीतर ढक गया है। अब इस बात की आशंका तो नहीं रहती है कि कोई जबरदस्ती आकर हमारे घर, खेत बाग-बगीचे, रुपये-पैसे छीन न ले, पर इस बात का खटका रहता है कि कोई नकली दस्तावेजों, झूठे गवाहों और कानूनी बहसों के बल से हमें इन वस्तुओं से वंचित न कर दे। दानों बातों का परिणाम एक ही है।

एक-एक व्यक्ति से दूसरे-दूसरे व्यक्तियों के लिए सुखद और दुःखद दोनों रूप बराबर रहे हैं और बराबर रहेंगे। किसी प्रकार की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था–एकाशाही से लेकर साम्यवाद तक–इस दो रंगी झलक को दूर नहीं कर सकती। मानवी प्रकृति की अनेक-रूपता शेष प्रकृति की अनेकरूपता के साथ-साथ चलती रहेगी। ऐसे समाज की कल्पना, ऐसी परिस्थिति का स्वप्न, जिसमें सुख ही सुख, प्रेम ही प्रेम हो, या तो लंबी-चौड़ी बात बनाने के लिए अथवा अपने को या दूसरों को फुसलाने के लिए ही समझा जा सकता है।

ऊपर जिस व्यक्तिगत विषमता की बात कही गई है, उससे समष्टि रूप में मनुष्य-

जाति का वैसा अमंगल नहीं है। कुछ लोग अलग-अलग यदि क्रूर लोभ के व्यापार में रत रहें तो थोड़े से लोग ही उनके द्वारा दुखी या त्रस्त होंगे। यदि उक्त व्यापार का साधन एक बड़ा दल बांध कर किया जाएगा तो उसमें अधिक सफलता होगी और उसका अनिष्ट प्रभाव बहुत दूर तक फैलेगा। संघ एक शक्ति है जिसके द्वारा शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार की संभावना बहुत बढ़ जाती है। प्रचीन काल में जिस प्रकार के स्वदेश-प्रेम की प्रतिष्ठा यूनान में हुई थी उसने आगे चल कर योरप में बड़ा भयंकर रूप धारण किया। अर्थशास्त्र के प्रभाव से अर्थोन्माद का उसके साथ संयोग हुआ और व्यापार राजनीति या राष्ट्रनीति का प्रधान अंग हो गया। योरप के देश इस धुन में लगे कि व्यापार के बहाने दूसरे देशों से जहां तक धन खींचा जा सके बराबर खींचा जाता रहे। पुरानी चढ़ाइयों की लूटपाट का सिलसिला आक्रमण काल तक ही—जो बहुत दीर्घ नहीं हुआ करता था—रहता था। पर योरप के अर्थोन्मादियों ने ऐसी गूढ़, जटिल और स्थायी प्रणालियां प्रतिष्ठित की जिनके द्वारा भूखंड की न जाने कितनी जनता का क्रम-क्रम से रक्त चूसता चला जा रहा है—न जाने कितने देश चलते-फिरते कंगालों के कारागार हो रहे हैं।

जब तक योरप की जातियों ने आपस में लड़कर अपना रक्त नहीं बहाया, तब तक उनका ध्यान अपनी इस अंधनीति के अनर्थ की ओर नहीं गया। गत महायुद्ध के पीछे जगह-जगह स्वदेश-प्रेम के साथ-साथ विश्वप्रेम उमड़ता दिखाई देने लगा। आध्यात्मिकता की भी बहुत कुछ पूछ होने लगी। पर इस विश्वप्रेम और आध्यात्मिकता का शाब्दिक प्रचार ही अभी तो देखने में आया है। इस फैशन की लहर भारतवर्ष में भी आई। पर कोरे फैशन के रूप में गृहीत इस 'विश्वप्रेम' और 'अध्यात्म' की चर्चा का कोई स्थायी मूल्य नहीं। इसे हवा का एक झोंका ही समझना चाहिए।

सभ्यता की वर्तमान स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से वैसा भय तो नहीं रहा जैसा पहले रहा करता था पर एक जाति को दूसरी जाति से, एक देश को दूसरे देश से, भय के स्थायी कारण प्रतिष्ठित हो गए हैं। सबल और सबल देशों के बीच अर्थ-संघर्ष को, सबल और निर्बल देशों के बीच अर्थ-शोषण की प्रक्रिया अनवरत चल रही है; एक क्षण का विराम नहीं है। इस सार्वभौम वणिग्वृत्ति से उतना अनर्थ कभी न होता यदि क्षात्रवृत्ति उसके लक्ष्य से अपना लक्ष्य अलग रखती। पर इस युग में दोनों का विलक्षण सहयोग हो गया है। वर्तमान अर्थोन्माद को शासन के भीतर रखने के लिए क्षात्रधर्म के उच्चे पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्रसंघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है।

जिस प्रकार सुखी होने का प्रत्येक प्राणी को अधिकार है उसी प्रकार मुक्तातंक होने का भी। पर कर्मक्षेत्र के चक्रव्यूह में पड़कर जिस प्रकार सुखी होना प्रयत्न-साध्य होता है, उसी प्रकार निर्भय रहना भी। निर्भयता के संपादन के लिए दो बातें अपेक्षित होती हैं—पहली तो यह कि दूसरों को हमसे किसी प्रकार का भय या कष्ट न हो; दूसरी यह कि दूसरे हमको कष्ट या भय पहुंचाने का साहस न कर सकें। इनमें से एक का संबंध उत्कृष्ट शील से है और दूसरी का शक्ति और पुरुषार्थ से। इस संसार में किसी को न डराने से ही डरने की संभावना दूर नहीं हो सकती। साधु से साधु प्रकृति वाले को क्रूर लोभियों और दूर्जनों से क्लेश पहुंचता है। अतः उनके प्रयत्नों को विफल करने का भय-संचार द्वारा रोकने की आवश्यकता से हम बच नहीं सकते।

गिल्लू

महादेवी वर्मा

सोनजुही में आज एक पीली कली लगी है । उसे देखकर अनायास ही उस छोटे जीव का स्मरण हो आया, जो इस लता की सघन हरीतिमा में छिपकर बैठता था और फिर मेरे निकट पहुंचते ही कंधे पर कूदकर उसे चौंका देता था । तब मुझे कली की खोज रहती थी, पर आज उस लघुप्राण की खोज है ।

परंतु वह तो अब तक इस सोनजुही की जड़ में मिट्टी होकर मिल गया होगा। कौन जाने स्वर्णिम कली के बहाने वही मुझे चौंकाने ऊपर आ गया हो ।

अचानक एक दिन सवेरे कमरे से बरामदे में आकर मैंने देखा, दो कौवे एक गमले के चारों ओर चोंचो से छुआ-छुऔवल जैसा खेल खेल रहे हैं। यह काकभुशुंडि भी विचित्र पक्षी है-एक साथ ससादरित, अनादरित, अति सम्मानित, अति अवमानित।

हमारे बेचारे पुरखे न गरुड़ के रूप में आ सकते हैं, न मयूर के, न हंस के। उन्हें पितरपक्ष में हमसे कुछ पाने के लिए काक बनकर ही अवतीर्ण होना पड़ता है । इतना ही नहीं, हमारे दूरस्थ प्रियजनों को भी अपने आने का मधु संदेश इनके कर्कश स्वर में ही देना पड़ता है । दूसरी ओर हम कौवा और कांव-कांव करने को अवमानना के अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं ।

मेरे काकपुराण के विवेचन में अचानक बाधा आ पड़ी, क्योंकि गमले और दीवार की संधि में छिपे एक छोटे-से जीव पर मेरी दृष्टि रुक गयी । निकट जाकर देखा, गिलहरी का एक छोटा-सा बच्चा है, जो संभवतः घोंसले से गिर पड़ा है और अब कौवे जिसमें सुलभ आहार खोज रहे हैं ।

काकद्वय की चोंचों के दो घाव उस लघुप्राण के लिए बहुत थे, अतः वह निश्चेष्ट-सा गमले से चिपका पड़ा था ।

सबने कहा कौवे की चोंच का घाव लगने के बाद यह बच नहीं सकता, अतः इसे ऐसे ही रहने दिया जावे ।

परंतु मन नहीं माना—उसे हौले से उठाकर अपने कमरे में लायी, फिर रुई से रक्त पोंछकर घावों पर पेंसिलिन का मरहम लगाया ।

रुई की पतली बत्ती दूध से भिगोकर जैसे-तैसे उसके नन्हे से मुंह में लगायी,

पर मुंह खुल न सका और दूध की बूंदें दोनों ओर ढुलक गयीं ।

कई घंटे के उपचार के उपरांत उसके मुंह में एक बूंद पानी टपकाया जा सका। तीसरे दिन वह इतना अच्छा और आश्वस्त हो गया कि मेरी उंगली अपने दो नन्हे पंजों से पकड़कर नीले कांच के मोतियों जैसी आँखों से इधर-उधर देखने लगा ।

तीन-चार मास में उसके स्निग्ध रोयें, झब्बेदार पूंछ और चंचल चमकीली आंखें सबको विस्मित करने लगीं ।

हमने उसकी जातिवाचक संज्ञा को व्यक्तिवाचक का रूप दे दिया और इस प्रकार हम उसे गिल्लू कहकर बुलाने लगे । मैंने फूल रखने की एक हल्की डलिया में रुई बिछाकर उसे खिड़की पर लटका दिया ।

वही दो वर्ष गिल्लू का घर रहा । वह स्वयं हिलाकर अपने घर में झूलता और अपनी कांच के मनकों-सी आंखों से कमरे के भीतर और खिड़की से बाहर न जाने क्या देखता-समझता रहता था । परंतु उसकी समझदारी और कार्यकलाप पर सबको आश्चर्य होता था ।

जब मैं लिखने बैठती तब अपनी ओर मेरा ध्यान आकर्षित करने की उसे इतनी तीव्र इच्छा होती थी कि उसने एक अचूक उपाय खोज निकाला ।

वह मेरे पैर तक आकर सर्र से परदे पर चढ़ जाता फिर उसी तेजी से उतरता। उसका यह दौड़ने का क्रम तब तक चलता, जब तक मैं उसे पकड़ने के लिए न उठती।

कभी मैं गिल्लू को पकड़कर एक लंबे लिफाफे में इस प्रकार रख देती कि उसके अगले दो पंजों और सिर के अतिरिक्त सारा लघु गात लिफाफे के भीतर बंद रहता। इस अद्‌भुत स्थिति में कभी-कभी घंटों मेज पर दीवार के सहारे खड़ा रहकर वह अपनी चमकीली आंखों से मेरा कार्यकलाप देखा करता ।

भूख लगने पर चिक-चिक करके मानो वह मुझे सूचना देता और काजू या बिस्कुट मिल जाने पर उसी स्थिति में लिफाफे से बाहर वाले पंजों से पकड़कर उसे कुतरता रहता ।

फिर गिल्लू के जीवन का प्रथम बसंत आया। नीम-चमेली की गंध मेरे कमरे से हौले-हौले आने लगी। बाहर की गिलहरियां खिड़की की जाली के पास आकर चिक-चिक करके न जाने क्या कहने लगीं ।

गिल्लू को जाली के पास बैठकर अपनेपन से बाहर झांकते देखकर मुझे लगा की इसे मुक्त करना आवश्यक है ।

मैंने कीलें निकालकर जाली का एक कोना खोल दिया और इस मार्ग से गिल्लू ने बाहर जाने पर सचमुच ही मुक्ति की सांस ली । इतने छोटे जीव को घर में पले कुत्ते, बिल्लियों से बचाना भी एक समस्या ही थी ।

आवश्यक कागज-पत्रों के कारण मेरे बाहर जाने पर कमरा बंद ही रहता है । मेरे कालेज से लौटने पर जैसे ही कमरा खोला गया और मैंने भीतर पैर रखा, वैसे ही गिल्लू अपने जाली के द्वार से भीतर आकर मेरे पैर से सिर और सिर से पैर तक दौड़ लगाने लगा। तब से यह नित्य का क्रम हो गया ।

मेरे कमरे से बाहर जाने पर वह भी खिड़की की खुली जाली की राह बाहर चला जाता और दिनभर गिलहरियों के झुंड का नेता बना, हर डाल पर उछलता-कूदता रहता और ठीक चार बजे वह खिड़की के भीतर अपने झूले में झूलने लगता।

मुझे चौंकाने की इच्छा उसमें न जाने कब और कैसे उत्पन्न हो गयी थी। कभी फूलदान के फूलों में छिप जाता, कभी परदे की चुन्नट में और कभी सोनजुही की पत्तियों में ।

मेरे पास बहुत से पशु-पक्षी हैं और उनका मुझसे लगाव भी कम नहीं है, परंतु उनमें से किसी को मेरे साथ मेरी थाली में खाने की हिम्मत हुई है, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता ।

गिल्लू इनमें अपवाद था । मैं जैसे ही खाने के कमरे में पहुंचती, वह खिड़की से निकलकर आंगन की दीवार, बरामदा पार करके मेज पर पहुंच जाता और मेरी थाली में बैठ जाना चाहता। बड़ी कठिनाई से मैंने उसे थाली के पास बैठना सिखाया, जहां बैठकर वह मेरी थाली में से एक-एक चावल उठाकर बड़ी सफाई से खाता रहता। काजू उसका प्रिय खाद्य था और कई दिन काजू न मिलने पर वह अन्य खाने की चीजें या तो लेना बंद कर देता था या झूले से नीचे फेंक देता था ।

उसी बीच मुझे मोटर दुर्घटना में आहत होकर कुछ दिन अस्तपाल में रहना पड़ा। उन दिनों जब मेरे कमरे का दरवाजा खोला जाता, गिल्लू अपने झूले से उतरकर दौड़ता और फिर किसी दूसरे को देखकर तेजी से अपने घोंसले में जा बैठता। सब उसे काजू दे जाते, परंतु अस्पताल से लौटकर जब मैंने उसके झूले की सफाई की तो उसमें काजू भरे मिले, जिनसे ज्ञात होता था कि वह उन दिनों अपना प्रिय खाद्य कितना कम खाता रहा ।

मेरी अस्वस्थता में वह तकिये पर सिरहाने बैठकर अपने नन्हे-नन्हे पंजों से

मेरे सिर और बालों को इतने हौले-हौले सहलाता रहता कि उसका हटना एक परिचारिका के हटने के समान लगता ।

गर्मियों में जब मैं दोपहर में काम करती रहती तो गिल्लू न बाहर जाता, न अपने झूले में बैठता। उसने मेरे निकट रहने के साथ गर्मी से बचने का सर्वथा नया उपाय खोज निकाला था । वह मेरे पास रखी सुराही पर लेट जाता और इस प्रकार समीप भी रहता और ठंडक में भी रहता ।

गिलहरियों के जीवन की अवधि दो वर्ष से अधिक नहीं होती । अतः गिल्लू की जीवन-यात्रा का अंत आ ही गया । दिनभर उसने न कुछ खाया, न बाहर गया । रात में ही अंत की यातना में भी वह मेरी वही उंगली पकड़कर मेरे बिस्तर पर आया और ठंडे पजों से मेरी वही उंगली पकड़कर हाथ से चिपक गया, जिसे उसने अपने बचपन की मरणासन्न स्थिति में पकड़ा था ।

पंजे इतनी ठंडे हो रहे थे कि मैंने जागकर हीटर जलाया और उसे उष्णता देने का प्रयत्न किया। परंतु प्रभात की प्रथम किरण के स्पर्श के साथ ही वह किसी और जीवन में जागने के लिए सो गया ।

उसका झूला उतारकर रख दिया गया है और खिड़की की जाली बंद कर दी गयी है, परंतु गिलहरियों की नयी पीढ़ी जाली के उस पार चिक-चिक करती ही रहती है और सोनजुही पर बसंत आता ही रहता है ।

सोनजुही की लता के नीचे गिल्लू की समाधि दी गयी है—इसलिए भी कि उसे वह लता सबसे अधिक प्रिय थी—इसलिए भी कि उस लघुगात का, किसी वासंती दिन, जुही के पीताभ छोटे फूल में खिल जाने का विश्वास मुझे संतोष देता है ।

क्या निराश हुआ जाय?

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

मेरा मन कभी-कभी बैठ जाता है । समाचारपत्रों में ठगी, डकैती, चोरी, तस्करी और भ्रष्टाचार के समाचार भरे रहते हैं । आरोप-प्रत्यारोप का कुछ ऐसा वातावरण बन गया है कि लगता है, देश में कोई ईमानदार आदमी रह ही नहीं गया है । हर व्यक्ति सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है । जो जितने ही ऊँचे पद पर है, उसमें उतने ही अधिक दोष दिखाये जाते हैं । एक बहुत बड़े आदमी ने मुझसे एक बार कहा था कि इस समय सुखी वही है जो कुछ नहीं करता, जो भी कुछ करेगा उसमें लोग दोष खोजने लगेंगे । उस के सारे गुण भुला दिये जायेंगे और दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाने लगेगा। दोष किसमें नहीं होते ? यही कारण है कि हर आदमी दोषी अधिक दिख रहा है, गुणी कम या बिल्कुल नहीं । स्थिति अगर ऐसी है तो निश्चय ही चिन्ता का विषय है ।

यही क्या भारतवर्ष है जिसका सपना तिलक और गांधी ने देखा था? विवेकानन्द और रामतीर्थ का आध्यात्मिक ऊँचाई वाला भारतवर्ष कहाँ है ? रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मदनमोहन मालवीय का महान् संस्कृति-सभ्यता वाला भारतवर्ष किस अतीत के गह्वर में डूब गया? आर्य और द्रविड़, हिन्दू और मुसलमान, यूरोपीय और भारतीय आदर्शों की मिलनभूमि 'महामानव समुद्र' क्या सूख गया ? मेरा मन कहता है, ऐसा हो नहीं सकता। हमारे महान् मनीषियों के सपने का भारत है और रहेगा। ऊपर की सतह पर जितना भी कोलाहल और उथल-पुथल क्यों न दिखायी दे रही हो, नीचे शान्त अचंचल गाम्भीर्य में अब भी भारत महान् है, अनुकरणीय है। यह सही है कि इन दिनों कुछ ऐसा माहौल बना है कि ईमानदारी से मेहनत करके जीविका चलाने वाले निरीह और भोले भाले श्रमजीवी पिस रहे हैं, झूठ और फरेब का रोजगार करने वाले फल-फूल रहे हैं । ईमानदारी को मूर्खता का पर्याय समझा जाने लगा है, सचाई केवल भीरु और बेबस लोगों के हिस्से पड़ी है । ऐसी स्थिति में जीवन के महान् मूल्यों के बारे में लोगों की आस्था ही हिलने लगी है ।

बात नयी नहीं है। पर इसकी बीभत्सता शायद पहले कभी इतनी विकराल होकर नहीं प्रकट हुई । आज से चार सौ साल पहले बाबा तुलसीदास ने कुछ ऐसा ही माहौल देखा था । वे व्याकुल भाव से कह गये हैं:

सीदत साधु, साधुता सोचति,

खल बिलसत, हुलसति खलई है ।

परन्तु आधुनिक साधनों और सुविधाओं के साथ-साथ धन-संग्रह की प्रवृत्ति को जैसा बढ़ावा इस समय मिला है, वैसा उन दिनों नहीं था । 'खलई का हुलास' बेहिसाब बढ़ गया है और उसी अनुपात में, बल्कि कुछ अधिक मात्रा में ही, 'साधुता का सोच' भी बढ़ा है । तुलसीदास ने महान् जीवन-मूल्यों में आस्था नहीं छोड़ी थी। लगता है, उनके समकालीन अधिकांश लोगों ने भी नहीं छोड़ी थी, पर आज ? आज भी छोड़ने की जरूरत नहीं है ।

ऊपर-ऊपर जो कुछ दिखायी दे रहा है, वह बहुत हाल की मनुष्य-निर्मित नीतियों की त्रुटियों की देन है। सदा मनुष्य-बुद्धि नयी परिस्थितियों का सामना करने के लिए नये सामाजिक विधि-निषेधों को बनाती है, उनके ठीक साबित न होने पर उन्हें बदलती है । ऊहापोह, ग्रहण-त्याग, संशोधन-परिवर्धन का सिलसिला चलता ही रहता है । उथलपुथल भी होती है, कई बार दुर्व्यवस्था के कारण निरीह व्यक्तियों का कष्ट भी बढ़ता है, बहुधा सुविधाभोगी वर्ग की स्थिति में परिवर्तन के कारण व्यक्ति-विशेष बुरी तरह ध्वंस हो जाता है । नियम-कानून सबके लिए बनाये जाते हैं, पर मनुष्य-समाज बहुत जटिल प्रक्रियाओं से होकर, गुजरकर और भी जटिल होता है, सबके लिए कभी भी एक ही नियम सुखकर नहीं होते। मनुष्य की बुद्धि से निर्मित व्यवस्था हमेशा त्रुटि-युक्त होती है । सामयिक कायदे-कानून कभी युग-युग से परीक्षित आदर्शों से टकराते भी हैं, इससे ऊपरी सतह आलोड़ित भी होता है। पहले भी हुआ है, आगे भी होगा उसे देखकर हताश हो जाना ठीक नहीं है ।

भारतवर्ष ने कभी-भी भौतिक वस्तुओं के संग्रह को महत्व नहीं दिया। उसकी दृष्टि में मनुष्य के भीतर जो महान् आन्तरिक तत्व स्थिर भाव से बैठा हुआ है, वही चरम और परम है । लोभ-मोह, काम-क्रोध आदि विकार मनुष्य में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं, पर उनको प्रधान शक्ति मान लेना और अपने मन और बुद्धि को उन्हीं के इशारे पर छोड़ देना बहुत निकृष्ट आचरण है। भारतवर्ष ने कभी भी इनको महत्व नहीं दिया, इन्हें सदा संयम के बन्धन से बाँधकर रखने का प्रयत्न किया है । परन्तु, भूख की उपेक्षा नहीं की जा सकती, बीमार के लिए दवा की उपेक्षा नहीं की जा सकती, गुमराह को ठीक रास्ते पर ले आने के उपायों की उपेक्षा नहीं की जा सकती । हुआ यह है कि इस देश के कोटि-कोटि दरिद्रजनों की हीन अवस्था को दूर करने के लिए ऐसे अनेक कायदे-कानून बनाये गये हैं जो कृषि, उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा और स्वास्थ्य की स्थिति को अधिक उन्नत और

सुचारु बनाने के लक्ष्य से प्रेरित है । अपने-आप में यह लक्ष्य बहुत ही उत्तम है, परन्तु जिन लोगों को इन कार्यों में लगना है उनका मन सब समय पवित्र नहीं होता। प्रायः ही वे लक्ष्य को भूल जाते हैं और अपनी ही सुख-सुविधा की ओर ज्यादा ध्यान देने लगते हैं। व्यक्ति चित्त सब समय आदर्शों द्वारा चालित नहीं होता । जितने बड़े पैमाने पर इन क्षेत्रों में मनुष्य की उन्नति के विधान बनाये गये, उतनी ही मात्रा में लोभ-मोह जैसे विकार भी विस्तृत होते गये । लक्ष्य की बात भूल गयी। आदर्शों को मजाक का विषय बनाया गया और संयम को दकियानूसी मान लिया गया। परिणाम जो होना था वह हो रहा है । यह कुछ थोड़े-से लोगों के बढ़ते हुए लोभ का नतीजा है, किन्तु इससे भारतवर्ष के पुराने आदर्श और भी अधिक स्पष्ट रूप से महान् और उपयोगी दिखायी देने लगे हैं ।

भारतवर्ष सदा कानून को धर्म के रूप में देखता आ रहा है । आज एकाएक कानून और धर्म में अन्तर कर दिया गया है । धर्म को धोखा नहीं दिया जा सकता, कानून को दिया जा सकता है । यही कारण है कि जो लोग धर्म-भीरु रूढ़िग्रस्त हैं, वे कानून की त्रुटियों से लाभ उठाने में संकोच नहीं करते ।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण खोजे जा सकते हैं कि समाज के उपरवाले स्तर में चाहे जो भी हो रहा हो, भीतर-भीतर भारतवर्ष अब भी यह अनुभव कर रहा है कि धर्म कानून से बड़ी चीज है ! अब भी सेवा, ईमानदारी, सचाई और आध्यात्मिकता के मूल्य बने हुए हैं । वे दब अवश्य गये हैं, लेकिन नष्ट नहीं हुए। मनुष्य आज भी मनुष्य से प्रेम करता है, महिलाओं का सम्मान करता है, झूठ और चोरी को गलत समझता है, दूसरे को पीड़ा पहुँचाने को पाप समझता है और कठिनाई में पड़े हुए बेबस लोगों की सहायता करने में अपने को कृतकृत्य अनुभव करता है। हर आदमी अपने व्यक्तिगत जीवन में इस बात का अनुभव करता है । समाचारपत्रों में जो भ्रष्टाचार के प्रति इतना आक्रोश है, वह यही साबित करता है कि हम ऐसी चीजों को गलत समझते हैं और समाज से उन तत्वों की प्रतिष्ठा कम करना चाहते हैं जो गलत तरीके से धन या मान संग्रह करते हैं । दोषों का पर्दाफाश करना बुरी बात नहीं है । बुराई यह मालूम होती है कि किसी के आचरण के गलत पक्ष को उद्‌घाटित करते समय उसमें रस लिया जाता है और दोषोद्‌घाटन को एकमात्र कर्त्तव्य ही मान लिया जाता है । बुराई में रस लेना बुरी बात है, अच्छाई को उतना ही रस लेकर उजागर न करना और भी बुरी बात है । सैकड़ों घटनाएँ ऐसी घटती हैं, जिन्हें उजागर करने से लोकचित्त में अच्छाई के प्रति अच्छी भावना जागती है।

मैं एक बार रेलवे स्टेशन पर टिकिट लेने गया। गलती से मैंने दस रुपये के

बदले सौ रुपये का नोट दे दिया। टिकिट बाबू ने उस समय वह रुपया रख लिया। मुझे पता भी नहीं चला कि मैंने कितनी बड़ी गलती की है । मैं जल्दी-जल्दी गाड़ी में आकर बैठ गया। थोड़ी देर में टिकिट बाबू उन दिनों के सैकेंड क्लास के डब्बे में हर आदमी का चेहरा पहचानता हुआ उपस्थित हुआ। उसने मुझे पहचान लिया और बड़ी विनम्रता के साथ मेरे हाथ में नब्बे रुपये रख दिये और कहा, "यह बहुत बड़ी गलती हो गयी थी । आपने भी नहीं देखा, मैंने भी नहीं देखा।" उसके चेहरे पर विशेष सन्तोष की गरिमा थी । मैं चकित रह गया । कैसे कहूँ कि दुनिया से सचाई और ईमानदारी लुप्त हो गयी है ? ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं, परन्तु यही एक घटना ठगी और वंचना की अनेक घटनाओं से अधिक शक्तिशाली है ।

एक बार मैं बस में यात्रा कर रहा था । मेरे साथ मेरी पत्नी और तीन बच्चे भी थे । बस में कुछ खराबी थी, रुक-रुककर चलती थी । गन्तव्य से कोई पाँच मील पहले ही एक निर्जन सुनसान स्थान में बस ने जवाब दे दिया । रात के कोई दस बजे होंगे। बस के यात्री घबड़ा गये । कण्डक्टर ऊपर गया और एक साइकिल लेकर चलता बना। लोगों को सन्देह हो गया कि हमको धोखा दिया जा रहा है । बस में बैठे लोगों ने तरह-तरह की बातें शुरू कर दीं। किसी ने कहा, "यहाँ डकैती होती है । दो दिन पहले इसी तरह एक बस को लूट लिया गया ।" परिवार सहित अकेला मैं ही था । बच्चे 'पानी', 'पानी' चिल्ला रहे थे। पानी का कहीं ठिकाना नहीं था । ऊपर से आदमियों में डर समा गया था । कुछ नौजवान लोगों ने ड्राइवर को पकड़कर मारने-पीटने का हिसाब बनाया। ड्राइवर के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। लोगों ने उसे पकड़ लिया । वह बड़े कातर ढंग से मेरी ओर देखने लगा और बोला, "हम लोग बस का कोई उपाय कर रहे हैं, बचाइए, ये लोग मारेंगे ।" डर तो मेरे मन में भी था, पर उसकी कातर मुद्रा देखकर मैंने और यात्रियों को समझाया कि मारना ठीक नहीं है । परन्तु यात्री इतना घबड़ा गये थे कि वे मेरी बात सुनने को तैयार नहीं हुए । वे लोग कहने लगे, "इसकी बातों में मत आइए, धोखा दे रहा है। कण्डक्टर को पहले ही डाकुओं के यहाँ भेज दिया है ।" मैं भी भयभीत था, पर ड्राइवर को किसी तरह मारपीट से बचाया। डेढ़-दो घण्टे बीत गये । मेरे बच्चे खाना और पानी के लिए व्याकुल थे । मेरी और मेरी पत्नी की हालत बुरी थी । लोगों ने ड्राइवर को मारा तो नहीं, पर उसे बस से उतारकर एक जगह घेरकर रखा । कोई दुर्घटना होती है तो पहले ड्राइवर को समाप्त कर देना उन्हें उचित जान पड़ा । मेरे गिड़गिड़ाने का कोई विशेष असर नहीं पड़ा। इसी समय क्या देखता हूँ कि एक खाली बस चली आ रही है और उस पर हमारी बस का कण्डक्टर

भी बैठा हुआ है । उसने आते ही कहा, ''अड्डे से नयी बस लाया हूँ, इस पर बैठिए। यह बस चलने लायक नहीं है ।'' फिर मेरे पास एक लोटे में पानी और थोड़ा दूध लेकर आया और बोला, ''पण्डितजी ! बच्चों का रोना मुझसे नहीं देखा गया! वहीं दूध मिल गया, थोड़ा लेता आया।'' यात्रियों को फिर जान में जान आयी। सबों ने उसे धन्यवाद दिया। ड्राइवर से माफी माँगी और बारह बजे से पहले ही सब लोग बस अड्डे पर पहुँच गये। कैसे कहूँ कि मनुष्यता एकदम समाप्त हो गयी। कैसे कहूँ कि लोगों में दया माया रह ही नहीं गयी। जीवन में न जाने कितनी ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जिन्हें मैं कभी भूल नहीं सकता ।

ठगा भी गया हूँ, धोखा भी खाया है, परन्तु बहुत कम स्थलों पर विश्वासघात नाम की चीज मिली है । केवल उन्हीं बातों का हिसाब रखूँ, जिनमें धोखा खाया है तो जीवन कष्टकर हो जायेगा । परन्तु ऐसी घटनाएँ बहुत कम नहीं हैं, जहाँ लोगों ने अकारण सहायता की है, निराश मन को ढांढ़स दिया है और हिम्मत बँधायी है । कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक प्रार्थनागीत में भगवान् से प्रार्थना की थी कि 'संसार में केवल नुकसान ही उठाना पड़े, धोखा खाना ही पड़े तो ऐसे अवसरों पर भी हे प्रभो ! ऐसी शक्ति दो कि मैं तुम्हारे ऊपर सन्देह न करूँ !'

संसारेते लभिले क्षति, पाइले सुधु वंचना
तोमाके जेन न करि संशय।

मनुष्य की बनायी विधियाँ गलत नतीजे तक पहुँच रही है तो उन्हें बदलना होगा। वस्तुतः आये दिन इन्हें बदला ही जा रहा है। लेकिन अब भी आशा की ज्योति बुझी नहीं है । महान् भारतवर्ष को पाने की सम्भावना बनी हुई है, बनी रहेगी ।

मेरे मन ! निराश होने की जरूरत नहीं है ।

संस्कृति है क्या?

रामधारी सिंह 'दिनकर'

संस्कृति ऐसी चीज है जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किंतु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। कुछ अंशों में वह सभ्यता से भिन्न गुण है । अंग्रेजी में कहावत है कि सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है । मोटर, महल, सड़क, हवाई जहाज, पोशाक और अच्छा भोजन, ये तथा इनके समान सारी अन्य स्थूल वस्तुएं, संस्कृति नहीं, सभ्यता के समान हैं । मगर, पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है वह संस्कृति की चीज है । इसी प्रकार मोटर बनाने और उसका उपयोग करने, महलों के निर्माण में रुचि का परिचय देने और सड़कों तथा हवाई जहाजों की रचना में जो ज्ञान लगता है, उसे अर्जित करने में संस्कृति अपने को व्यक्त करती है । हर सुसभ्य आदमी सुसंस्कृत ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अच्छी पोशाक पहनने वाला आदमी भी तबीयत से नंगा हो सकता है और तबीयत से नंगा होना संस्कृति के खिलाफ बात है । और यह भी नहीं कहा जा सकता कि हर सुसंस्कृत आदमी सभ्य ही होता है, क्योंकि सभ्यता की पहचान सुख-सुविधा और ठाट-बाट है। मगर, बहुत-से ऐसे लोग हैं जो सड़े-गले झोंपड़ों में रहते हैं, जिनके पास काफी कपड़े भी नहीं होते और न कपड़े पहनने के अच्छे ढंग ही उन्हें मालूम होते हैं, लेकिन फिर भी उनमें विनय और सदाचार होता है, वे दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं तथा दूसरों का दुःख दूर करने के लिए वे खुद मुसीबत उठाने को भी तैयार रहते हैं ।

छोटा नागपुर की आदिवासी जनता पूर्ण रूप से सभ्य तो नहीं कही जा सकती; क्योंकि सभ्यता के बड़े-बड़े उपकरण उसके पास नहीं हैं, लेकिन दया-माया, सच्चाई और सदाचार उसमें कम नहीं है। अतएव, उसे सुसंस्कृत समझने में कोई उज्र नहीं होना चाहिए । प्राचीन भारत में ऋषिगण जंगलों में रहते थे और जंगलों में वे कोठे और महल बनाकर नहीं रहते थे । फूस की झोंपड़ियों में वास करना, जंगलों के जीवों से दोस्ती और प्यार करना, किसी भी मोटे काम को अपने हाथ से करने में हिच-किचाहट नहीं दिखाना, पत्तों में खाना और मिट्टी के बर्तनों में रसोई पकाना, यही उनकी जिंदगी थी । और ये लक्षण आज की यूरोपीय परिभाषा के अनुसार सभ्यता के लक्षण नहीं माने जाते हैं । फिर भी वे ऋषिगण सुसंस्कृत ही नहीं थे, बल्कि वे हमारी जाति की संस्कृति का निर्माण करते थे । सभ्यता और

संस्कृति में यह एक मौलिक भेद है, जिसे समझे बिना हमें कहीं-कहीं कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है।

मगर वह कठिनाई कहीं-कहीं ही आती है। साधारण नियम यही है कि संस्कृति और सभ्यता की प्रगति, अधिकतर एकसाथ होती है और दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव भी पड़ता रहता है। उदाहरण के लिए, हम जब कोई घर बनाने लगते हैं, तब स्थूल रूप से यह सभ्यता का कार्य होता है। मगर, हम घर का कौन-सा नक्शा पसंद करते हैं, इसका निर्णय हमारी सांस्कृतिक रुचि करती है। और संस्कृति की प्रेरणा से हम जैसा घर बनाते हैं, वह फिर हमारी सभ्यता का अंग बन जाता है। इस प्रकार, सभ्यता के संस्कृति पर और संस्कृति की सभ्यता पर पड़ने वाले प्रभाव का क्रम निरंतर चलता ही रहता है।

यहीं एक यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि संस्कृति और प्रकृति में भी भेद है। गुस्सा करना मनुष्य की प्रकृति है, लोभ में पड़ना उसका स्वभाव है; ईर्ष्या, मोह, राग, द्वेष और कामवासना, ये सबके सब प्रकृतिदत्त गुण हैं। मगर प्रकृति के ये गुण अगर बेरोक छोड़ दिये जाएँ तो आदमी और जानवर में कोई भेद नहीं रह जाए। इसलिए, मनुष्य प्रकृति के इन आवेगों पर रोक लगाता है और कोशिश करता है कि वह गुस्से के वश में नहीं, बल्कि गुस्सा ही उसके वश रहे; वह लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष और कामवासना का गुलाम नहीं, बल्कि ये दुर्गुण ही उसके गुलाम रहें। और उन दुर्गुणों पर आदमी जितना विजयी होता है, उसकी संस्कृति भी उतनी ही ऊंची समझी जाती है।

निष्कर्ष यह कि संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा महीन चीज होती है। यह सभ्यता के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जैसे दूध में मक्खन या फूलों में सुगंध और सभ्यता की अपेक्षा यह टिकाऊ भी अधिक है, क्योंकि सभ्यता की सामग्रियां टूट-फूटकर विनष्ट हो जा सकती हैं, लेकिन संस्कृति का विनाश उतनी आसानी से नहीं किया जा सकता।

एक बात और है कि सभ्यता के उपकरण जल्दी से बटोरे भी जा सकते हैं, मगर उनके उपयोग के लिए जो उपयुक्त संस्कृति चाहिए वह तुरंत नहीं आ सकती। जो आदमी अचानक धनी हो जाता है या यक-ब-यक किसी ऊंचे पद पर पहुंच जाता है उसे चिढ़ाने के लिए अंग्रेजी में एक शब्द 'अपस्टार्ट' है। 'अपस्टार्ट' को लोग बुरा समझते हैं और इसलिए बुरा नहीं समझते कि अचानक धनी हो जाना या यक-ब-यक ऊंचे पद पर पहुंच जाना कोई बुरी बात है, बल्कि इसलिए कि धनियों तथा ऊंचे ओहदे वालों की जो संस्कृति है वह तुरंत सीखी नहीं जा सकती। इसलिए ऊंचे ओहदे पर पहुंचा हुआ व्यक्ति यदि पहले से अधिक विनयशील न हो जाए तो वह चिढ़ाने लायक हो जाता है।

संस्कृति ऐसी चीज नहीं जिसकी रचना दस-बीस या सौ-पचास वर्षो में की जा सकती हो । अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते, रहते-सहते, पढ़ते-लिखते, सोचते-समझते और राज-काज चलाते अथवा धर्म-कर्म करते हैं, उन सभी कार्यो से उसकी संस्कृति उत्पन्न होती है । हम जो कुछ भी करते हैं उसमें हमारी संस्कृति की झलक होती है; यहां तक कि हमारे उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने, घूमने-फिरने, और रोने-हंसने में भी हमारी संस्कृति की पहचान होती है, यद्यपि हमारा कोई भी एक काम हमारी संस्कृति का पर्याय नहीं बन सकता । असल में, संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं । इसलिए, जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं । इसलिए, संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है । यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मांतर तक करती है । अपने यहां एक साधारण कहावत है कि जिसका जैसा संस्कार है, उसका वैसा ही पुनर्जन्म भी होता है । जब हम किसी बालक या बालिका को बहुत तेज पाते हैं तब हम अचानक कह सकते हैं कि यह पूर्वजन्म का संस्कार है । संस्कार या संस्कृति, असल में, शरीर का नहीं आत्मा का गुण है और जबकि सभ्यता की सामग्रियों से हमारा संबंध शरीर के साथ ही छूट जाता है, तब भी हमारी संस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म-जन्मांतर तक चलता रहता है ।

आदिकाल से हमारे लिए जो काव्य और दर्शन रचते आये हैं, चित्र और मूर्ति बनाते आये हैं, वे हमारी संस्कृति के रचयिता हैं । आदिकाल से हम जिस-जिस रूप में शासन चलाते आये हैं, पूजा करते आये हैं, मंदिर और मकान बनाते आये हैं, नाटक और अभिनय करते आये हैं, बरतन और घर के दूसरे सामान बनाते आये हैं, कपड़े और जेवर पहनते आये हैं, शादी और श्राद्ध करते आये हैं, एवं और त्यौहार मनाते आये हैं अथवा परिवार, पड़ोसी और संसार से दोस्ती या दुश्मनी का जो भी सुलूक करते आये हैं, वह सबका-सब हमारी संस्कृति का ही अंश है । संस्कृति के उपकरण हमारे पुस्तकालय और संग्रहालय (म्यूजियम),

नाटकशाला और सिनेमागृह ही नहीं, बल्कि हमारे राजनीतिक और आर्थिक संगठन भी होते हैं, क्योंकि उन पर भी हमारी रुचि और चरित्र की छाप लगी होती है।

संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जब भी दो देश वाणिज्य-व्यापार अथवा शत्रुता या मित्रता के कारण आपस में मिलते हैं, तब उनकी संस्कृतियाँ एक-दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं, ठीक उसी प्रकार, जैसे दो व्यक्तियों की संगति का प्रभाव दोनों पर पड़ता है। संसार में, शायद ही, ऐसा कोई देश हो जो यह दावा कर सके कि उस पर किसी अन्य देश की संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ा है। इसी प्रकार, कोई जाति भी यह नहीं कह सकती कि उस पर किसी दूसरी जाति का प्रभाव नहीं है।

जो जाति केवल देना ही जानती है, लेना कुछ नहीं, उसकी संस्कृति का एक-न-एक दिन दिवाला निकल जाता है। इसके विपरीत, जिस जलाशय के पानी लाने वाले दरवाजे खुले रहते हैं, उसकी संस्कृति कभी नहीं सूखती। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है और कमल के फूल खिलते रहते हैं। कूपमंडूकता और दुनिया से रूठकर अलग बैठने का भाव संस्कृति को ले डूबता है। अक्सर देखा जाता है कि जब हम एक भाषा में किसी अद्‌भुत कला को विकसित होते देखते हैं तब तुरंत पास-पड़ोस या संपर्कवाली दूसरी भाषा में हम उसके उत्स की खोज करने लगते हैं। पहले एक भाषा में 'शेली' और 'कीट्स' पैदा होते हैं तब दूसरी भाषा में रवींद्र उत्पन्न होते हैं। पहले एक देश में बुद्ध होते हैं, तब दूसरे देश में ईसा मसीह का जन्म होता है। अगर मुसलमान इस देश में नहीं आये होते तो उर्दू भाषा का जन्म नहीं होता और न मुगल-कलम की चित्रकारी ही यहां पैदा हुई होती। अगर यूरोप से भारत का संपर्क नहीं हुआ होता तो भारत की विचारधारा पर विज्ञान का प्रभाव देर से पड़ता और राममोहन राय, दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद और गांधी में से कोई भी सुधारक उस समय जन्म नहीं लेते जिस समय उनका जन्म हुआ। जब भी दो जातियां मिलती हैं, उनके संपर्क या संघर्ष से जिंदगी की एक नई धारा फूट निकलती है जिसका प्रभाव दोनों पर पड़ता है। आदान-प्रदान की प्रक्रिया संस्कृति की जान है और इसी के सहारे वह अपने को जिंदा रखती है।

केवल चित्र, कविता, मूर्ति, मकान और पोशाक पर ही नहीं, सांस्कृतिक संपर्क का प्रभाव दर्शन और विचार पर भी पड़ता है। एक देश में जो दार्शनिक और महात्मा उत्पन्न होते हैं, उनकी आवाज दूसरे देशों में भी मिलते-जुलते दार्शनिकों और महात्माओं को जन्म देती है। एक देश में जो धर्म खड़ा होता है, वह दूसरे देशों के धर्मों को भी बहुत-कुछ बदल देता है। यही नहीं, बल्कि प्राचीन जगत्

में तो बहुत-से ऐसे देवी-देवता भी मिलते हैं जो कई जातियों के संस्कारों से निकलकर एक जगह जमा हुए हैं । एक जाति का धार्मिक रिवाज दूसरी जाति का रिवाज बन जाता है और एक देश की आदत दूसरे देश के लोगों की आदत में समा जाती है। अतएव, सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश और वह जाति अधिक शक्तिशालिनी और महान् समझी जानी चाहिए जिसने विश्व के अधिक-से अधिक देशों, अधिक-से अधिक जातियों की संस्कृतियों को अपने भीतर जज्ब करके, उन्हें पचा करके, बड़े-से बड़े समन्वय को उत्पन्न किया है। भारत देश और भारतीय जाति इस दृष्टि से संसार में सबसे महान है, क्योंकि यहां की सामाजिक संस्कृति में अधिक-से-अधिक जातियों की संस्कृतियां पची हुई हैं ।

भारतीयता

अज्ञेय

भारत की आत्मा सनातन है, भारतीयता केवल एक भौगोलिक परिवृत्ति की छाप नहीं, एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है, जो भारतीय को सारे संसार से पृथक् करता है। भारतीयता मानवीयता का निचोड़ है, उसकी हृदयमणि है, उसके नाक का बेसर है....

आप कहते चले जाइये, सौ श्रोताओं में से एक को–नहीं, आपको हजार श्रोता मिलें तो हजार में से एक को–छोड़कर बाकी सब आपके शब्द गट-गट पी जाएंगे; एक हल्की-सी तंद्रा, एक सुखालस पिनक-सी उन पर छा जावेगी; कितना अच्छा है यह सुनना कि भारतीयता मानवीयता के नाक का बेसर है, क्योंकि निस्संदेह भारतीयता के नाक का बेसर मैं स्वयं हूं....

तब वह जो सौ में एक–या हजार में एक–है, उसे पकड़ लीजिए! उसे इंगित करके बाकी सभा से कहिए, 'देखिए, यह आदमी शाश्वत भारतीयता को नहीं जानता-मानता ! अपनी संस्कृति से मानवीयता के श्रेष्ठ दाय से, यह अपरिचित है, भारत की सनातन आत्मा से इसने अपने को तोड़ लिया है....' सब लोग उसकी ओर दया-भरी दृष्टि से देखने लगेंगे–अरे, बिचारा, अभागा, अज्ञान-मोहांधकार-ग्रस्त कहीं का ! और कुछ कदाचित अवहेलना और हिकारत की दृष्टि से उसे देखकर मुंह फेर लेंगे–कम्बख्त परंपरा-द्वेषी, परमुखापेक्षी; सदियों की गुलामी से इसकी आत्मा गुलाम हो गयी है !

ठीक इस मौके पर आप मुड़कर उन नौ सौ निन्नानवे श्रद्धालु आत्मरत श्रोताओं से वह प्रश्न पूछ बैठें जो उन्हें पहले ही आपसे पूछना चाहिए था–कि भारतीयता आखिर है क्या ? भारत की आत्मा का वैशिष्ट्य किसमें है ? तो वे अचकचा जावेंगे। फिर खिसियानी-सी हंसी हंस देंगे। हें-हें, यह भी भला कोई पूछने की बात है, आप तो मजाक करते हैं, भारत की आत्मा माने–हां-हां, सदियों से सब जानते हैं, भारत की आत्मा माने–भारत की आत्मा! हां-हां, वही तो ।

हां-हां, वही तो ! सदियों से सब जानते हैं तभी अब पूछने की कोई जरूरत नहीं है । लेकिन किसी भी सांस्कृतिक परंपरा से, किसी भी जाति की व्यक्तिगत और समूहगत रचनात्मक प्रवृत्तियों के समन्वय से उत्पन्न गति से लाभ उठाने के लिए, उसे नया जीवन देने के लिए, उनसे अनुप्राणित होकर आगे बढ़ने के लिए,

आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति यह प्रश्न पूछे, उसका उत्तर अपने में पावे, उससे जो भी सत्या-त्मक प्रेरणा मिल सकती हो उसे आत्मसात् करे । क्योंकि ऐतिहासिक परंपरा कोई पोटली बांधकर रखा हुआ पाथेय नहीं है जिसे उठाकर हम चल निकलें । वह रस है जिसे हम बूंद-बूंद अपने में संचय करते हैं—या नहीं करते, कोरे रह जाते हैं ।

और प्रश्न पूछने की आवश्यकता का सबसे बड़ा प्रमाण तो वह स्वीकारात्मक औदासीन्य ही है जो इस प्रश्न पर हमें मिलता है । उसे लक्ष्य करते हुए समकालीन भारतीय मानस की पड़ताल करें—और वहां भारतीय मानस से अभिप्राय केवल उसके इने-गिने मेधावियों का मानस नहीं, लोकमानस है, प्रकृत जन का भी मानस है—तो हम कह सकते हैं कि भारतीयता का पहला लक्षण या गुण है सनातन की भावना, काल की भावना, काल के आदि-हीन अंत-हीन प्रवाह की भावना—और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टि से क्षणों की सरणी नहीं, काल तुमसे, भारतीय जाति से, संबद्ध विशिष्ट और निजी क्षणों की सरणी के रूप में। इसके प्रभावों की पड़ताल की जाय, इससे पहले इसकी पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि और दौड़ा ली जाय। कलियुग कितने वर्षों का होगा, यह शास्त्र बताते हैं । इसी प्रकार द्वापर, त्रेता और सतयुगों के काल हैं । यों तो इतना ही मानव काल-कल्पना की शक्ति से परे चला जाता है । लेकिन आगे जब हम जानते हैं कि यह ब्रह्मा का केवल एक पल है और फिर हिसाब लगाते हैं कि ब्रह्मा का दिवस और वर्ष कैसा होगा—तब हम यथार्थता के क्षेत्र से बिल्कुल परे चले जाते हैं । ऋषि-मुनि साठ हजार बरस तक तपस्या कर लेते थे । आज साठ वर्ष को मानवीय आयु की औसत मानकर उससे हजार-गुनी अवधि की कल्पना, खैर, की भी जा सकती है, लेकिन देवताओं की आयु-गणना करने जाते ही फिर यथार्थता का आंचल छूट जाता है । इस प्रकार सनातन के बोधक तक पहुंचते-पहुंचते हम काल की यथार्थता का बोध खो देते हैं । सनातन की भावना लंबी काल-परंपरा की भावना नहीं, काल की अयथार्थता की भावना है ।

यों तो पश्चिम की युवा संस्कृतियों में पले हुए लोग प्रायः पूर्व की प्राचीन संस्कृतियों की चर्चा करते हुए 'संस्कृति के भार' की चर्चा किया करते हैं—बहुत लंबी सांस्कृतिक परंपरा का एक बोझ उस परंपरा में रहने वालों पर हो जाता है, जिससे वह समकालीन प्रत्येक प्रवृत्ति या घटना को सुदूर अतीत की कसौटी पर परखने लगते हैं; सामने न देखकर पीछे देखते हैं और एक प्रकार के नियतिवादी हो जाते हैं। भारत के बारे में—और इसी प्रकार मिस्र आदि के बारे में—पाश्चात्य अध्येताओं ने ऐसे विचार प्रकट किये हैं । लेकिन अगर कुछ सहस्र वर्षों की सांस्कृतिक परंपरा का ही इतना बोझ हो सकता है, तो कल्पना कीजिए

उस बोझ का, जो ब्रह्मा के एक युग की उद्‌भावना करने से पड़ता होगा ! यद्यपि यह हम कह चुके कि ब्रह्मा का युग हमारी उद्‌भावना की पकड़ से बाहर की चीज है—वह काल्पनिक यथार्थता भी नही हो सकती ।

'भारतीयता' का दूसरा विशिष्ट गुण है स्वीकार की भावना। किसी हद तक यह पहली विशेपता का परिणाम ही है । हिंदू देवताओं को छोड़कर किसी के दिन और वर्ष इतने लंबे नहीं होते । यों अमर तो सभी देवता होते हैं, लेकिन दूसरों के देवताओं के दिन-रात साधारण मानवीय दिन-रात ही होते हैं, और उनकी जीवन-चर्चा की कल्पना हमें अपने यथार्थ काल से परे नहीं ले जाती । लेकिन भारत के देवताओं के जीवन की कल्पना ऐहिक काल की भावना को मिटाकर ही की जाती है । और जब हमारा काल ही यथार्थ नहीं रहता, तब उस काल में होने वाले व्यापार भी अयथार्थ हो जाते हैं। हमारे यथार्थ दुःख-क्लेश, हमारी यथार्थ आशा-आकांक्षा, मानव के उद्योग-परिश्रम—मानवी व्यापारमात्र अयथार्थ हो जाते हैं । और यथार्थता से इस स्खलन का प्रभाव मानवी संबंधों पर भी पड़ता है : हमारे लिए हमारे पड़ोसी भी यथार्थ नहीं रहते, बल्कि किसी हद तक हम स्वयं ही अपने लिए यथार्थ नहीं रहते—क्योंकि जिस ब्रह्मा के एक 'निमिप-पात' में हमारे कल्पांत विलीन हो जाते हैं, उसके सामने क्या है हमारा क्षुद्र जीवन—हमारी अपेक्षा में एक रोग-कीटाणु का जीवन जितना नगण्य है, उससे भी तो अधिक नगण्य हम हो जाते हैं । और फिर ब्रह्मा के 'निमिप-पात' की हम जब कल्पना करते हैं, तो ब्रह्मा की मानवाकार ही कल्पना करते हैं—अर्थात् एक कल्पित—या कल्पनातीत—अतिमानव ब्रह्मा के सामने यथार्थ ऐहिक मानव न-कुछ के बराबर है । अपनी इस नगण्यता से ही स्वीकार की भावना उत्पन्न होती है—दुःख के प्रति स्वीकार, दैन्य के प्रति स्वीकार, अत्याचार के प्रति स्वीकार, उत्पीड़न के प्रति स्वीकार—यहां तक कि दासता के प्रति स्वीकार, वह दासता दैहिक हो या मानसिक ।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि 'भारतीयता' के मूल में जो, भावना या भावनाएं हैं, उनसे हमें मानवी अस्तित्व की नगण्यता और जीवन के प्रति अवज्ञा का पाठ मिलता है । यह परिणाम चौंकाने वाला है । लेकिन स्वीकारी सहज चौंकता भी तो नहीं । और न चौंकने के लिए उसके पास और भी सहारे हैं—इस अस्तित्व से परे परलोक के किसी चमकीले अस्तित्व का, और जीवन के प्रति अवज्ञा के उत्तर में जीव-दया के भारतीय आदर्श का । लेकिन जिस तरह चिरंतन काल की भावना ने हमारे यथार्थ काल के बोध को मिटाया है, उसी प्रकार व्यापक जीव-दया ने जीवित व्यष्टि के प्रति करुणा को भी मिटा दिया है, जीव-दयावादी जीव-मात्र के प्रति दया रखता हुआ किसी भी जीव-मानव या मानवेतर—का कष्ट मजे में देखता चलता है !

मैं परंपरा-द्रोही नहीं हूं, न भारत-द्वेषी ही हूं । न ही मैं निराशावादी हूं । और तात्कालिक लाभ या उपयोगिता या सफलता के नाम पर नैतिक मूल्यों की उपेक्षा मुझे कभी अभीष्ट नहीं रही—मेरा आग्रह सदैव अवसरवाद के विरुद्ध और नैतिक मूल्य की रक्षा का रहा है। मुझे यही कहना है कि भारतीयता का जो रूप हमारी तत्संबंधी सहज संस्कृति—हमारे सनातन स्वीकार मे लक्षित होता है, उसकी मूल भावनाएं स्वयं जड़ हैं और जाड्य उत्पन्न करने वाली हैं, और उससे परिव्याप्त संस्कृति (मैं 'अनुप्राणित' कहने लगा था, पर अनुप्राणित तो तब हो जब प्राण हों, जड़ता से तो विजड़ित ही होगी!) गतिहीन, स्थितिशील और अगतिवादी या प्रगतिवादी ही होगी ।

इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि भारतीय संस्कृति अग्राह्य है, या कि भारतीय परंपरा त्याज्य है । परिणाम एक तो यह निकलता है कि उसके संबंध में हमारी धारणाएं भ्रांत हैं और त्याज्य हैं । दूसरे यह भी परिणाम निकलता है कि जिसे हम भारत की आत्मा कहते हैं, वह वास्तव में आत्मा और अनात्मा का, जीवित और जड़ का एक पुंज है, जिसकी परीक्षा की आवश्यकता है । परीक्षा करके जड़ को अलग रख देना होगा—चाहे पुरातत्व संग्रहालय में ही—और जीवित को आगे बढ़ाना होगा । और आगे तीसरा परिणाम यह भी निकलता है कि आज बहुधा भारतीय संस्कृति के जड़ तत्वों को ही भारतीयता माना जाता है । कुछ लोग भारतीयता के नाम पर निरी जड़ता का समर्थन करते हैं; कुछ दूसरे जड़ता के विरोध के नाम पर संस्कृति से ही इनकार करना चाहते हैं ।

हमें चाहिए वह बेलाग, सचेत, स्वाधीन जिज्ञासा जो परिवृत्ति में घिरे हुई भी आगे देखे । जो अपने देश में रहकर भी आगे देखे; आगे दूसरे देशों को नहीं, हमसे आरंभ होने वाली आगे की दिशा को, आगे को । जो अपने काल में रहकर भी आगे देखे; न इधर अनादि को, न उधर अनंत को, वरन् हमसे आगे के उस काल को जो हमारे काल से प्रसूत है और जिसके हम स्रष्टा हैं । वह अपरिबद्ध जिज्ञासा भारतीयता है कि नहीं, इस पर विद्वान् लोग बहस कर सकते हैं; मैं असंदिग्ध भाव से इतना जानता हूं और कहना चाहता हूं कि वह भारतीयता को कल्याणकर बना सकती है ।

इतिहास में हिन्दी प्रदेश और हिन्दी

रामविलास शर्मा

बहुत से अंग्रेजी पत्रकार काउबेल्ट, हिन्दी बेल्ट की चर्चा बराबर करते हैं। इस तरह वे हिन्दी प्रदेश का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उसे घृणा के साथ उन्होंने काउबेल्ट का नाम दिया है। पर इस बेल्ट का अस्तित्व है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इस बेल्ट को पहले मध्यदेश फिर हिन्दुस्तान कहा जाता था। यह बात साहित्य के शोधकर्ता, भाषाविज्ञान के आचार्य और इनसे अलग अन्य विषयों के विद्वान् भी अच्छी तरह जानते हैं। सागर विश्वविद्यालय में भूगोल के आचार्य एस.एम. अली ने पुराणों के भूगोल पर शोधकार्य किया है। अपने शोधग्रंथ में उन्होंने लिखा है—"गंगा के ऊपरी मैदानों का पुराना नाम आगरा और अवध का संयुक्त प्रांत था। नाम के तौर पर यह बहुत भद्दा नहीं था। इससे इस क्षेत्र की कुछ विशेष मौलिक भिन्नताओं का पता चलता था। साथ ही उसमें काफी बुनियादी एकता है जिससे कि उन सबको एक ही क्षेत्र में शामिल किया जा सके। चाहे हम उसकी पूर्वी सीमाओं, बिहार के मैदान तक उसका विस्तार कर दें और कम से कम पटना तथा सोन और गंडक के संगम को उसमें शामिल कर लें और उत्तर पश्चिमी सीमाओं पर यमुना और सतलुज के बीच घग्घर का मैदान उसमें आ जाये।" इस तरह यमुना और सतलुज से लेकर सोन और गंडक तक का पूरा क्षेत्र हिन्दीभाषी क्षेत्र है और यह इकाई पौराणिक काल में स्वीकार की जाती थी।

आगे एस.एम. अली ने लिखा है—"यह महाभारत और रामायण महाकाव्यों तथा पुराणों का मध्यदेश है। महाभारत युद्ध उसके उत्तर पश्चिमी सीमांत भाग में हुआ था। कृष्ण का प्रारंभिक कार्यक्षेत्र उसका पश्चिमी भाग था। अयोध्या राम की निवास भूमि थी और वाराणसी ब्राह्मणत्व का केन्द्र था। बुद्ध और उनके मत का जन्म यहाँ हुआ था। यह अशोक के साम्राज्य का केन्द्र था। पटना की धरती का निचली सतहों पर उनके पाटलिपुत्र के चिह्न अब भी बचे हुए हैं। यह मुस्लिम इतिहासकारों का हिन्दुस्तान था। दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद, जौनपुर और लखनऊ मध्यकालीन राजधानियाँ थीं। यह सदा भारत का हृदय रहा है, भारत की विशेषताएँ और सुनिश्चित भारतीयता लिये हुए।" हिन्दी प्रदेश से कौन सी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपराएँ जुड़ी हुई हैं, भूगोल के आचार्य ने यहाँ स्पष्ट कर दिया है। भाषा के बारे में कहते हैं : "हिन्दी भाषा का संबंध इस प्रदेश से

इस प्रकार है। उसकी केन्द्रीयता ने उसे हिन्दी की अपनी भूमि बनने में सहायता की। जो हिन्दी भारतीय भाषाओं में संपर्क भाषा होने के सर्वाधिक निकट है, उसमें काफी बुनियादी एकता है–संरचना और उभरी आकृति में, जलवायु और वनस्पति नियमन में, वहाँ की आबादी की सघनता और लोगों के व्यवसाय में।" (एस.एम. अली, द जिऑग्राफी ऑफ द पुरानाज, पृ. १३३-१३४)।

१७वीं सदी में यूरूप के बहुत से व्यापारी भारत में व्यापार करने के लिए आये। व्यापार का एक बहुत बड़ा केन्द्र आगरा था। यहाँ वे हिन्दुस्तानी भाषा सीखते थे और उसके द्वारा विचार विनिमय किया करते थे। ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया के प्रथम खण्ड में इन यात्रियों का हवाला दिया है। उन्होंने लिखा है–"उन दिनों (अर्थात् १७वीं सदी) के कुछ अंग्रेज सौदागर अवश्य ही धाराप्रवाह हिन्दुस्तानी बोल लेते थे।" वे धाराप्रवाह हिन्दुस्तानी इसलिए बोल लेते थे कि उन्हें व्यापार करना था और व्यापार का माध्यम यह हिन्दुस्तानी थी, और वह ब्रज भाषा से भिन्न थी और फारसी नहीं थी। ग्रियर्सन ने बताया है, टॉमस कौरियॉट नामक अंग्रेज राजदूत इतनी अच्छी हिन्दुस्तानी बोलता था कि १६१३ में जब उसकी धोबिन ने उसे गालियाँ देना शुरू किया तो उसने भी जवाबी गालियाँ दीं और धोबिन को शांत कर दिया। और भी दिलचस्प बात यह है कि व्यापार की सुविधा के लिए एक लिपि का होना आवश्यक था।

एडवर्ड टेरी ने १६५५ में प्रकाशित अपने यात्रा वृत्तांत में लिखा था–"इन्दोस्तान देश की बोलचाल की भाषा अरबी-फारसी जबानों से बहुत साम्य रखती है, लेकिन बोलने में ज्यादा सुखद और सरल है। उसमें काफी रवानी है और थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहा जा सकता है। लोग हमारी ही तरह बायें से दायें को लिखते और पढ़ते हैं।" इसका मतलब यह है कि भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का व्यवहार होता था, लेकिन लिपि एक ही थी। वास्तव में एक लिपि के बिना व्यापार का विकास हो नहीं सकता था और आगरा उस समय दुनिया में व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। इसकी उन्नति का बहुत बड़ा कारण यह था कि हिन्दू-मुसलमान व्यापारी एक ही लिपि का व्यवहार करते थे। १७वीं सदी के अनेक लेखकों ने नागरी लिपि के व्यवहार का उल्लेख किया था। १६२३ में पियेत्रो देल्ला वाल्ले ने लिखा था कि ब्राह्मण नागरी लिपि का प्रयोग करते हैं। हाइनरिश रोठ ने १७वीं सदी में नागरी लिपि के व्यवहार का जिक्र किया था। १७७१ में कासिआनो बेलीगाती ने नागरी वर्णमाला पर एक पुस्तक लिखी थी।

इन उल्लेखों से पता चलता है कि हिन्दी भाषा के अलावा देवनागरी लिपि का व्यवहार भी होता था और इस भाषा और लिपि के जरिये व्यापार ने उन्नति की थी। जिस प्रदेश में आकर ये व्यापारी बसते थे, उसे हिन्दोस्तान या इन्दोस्तान कहते थे, और वहाँ की भाषा को हिन्दोस्तानी कहते थे। उल्लेखनीय है कि यहाँ जब ईसाई मिशनरियों ने अपना प्रचार कार्य आरंभ किया तो उन्होंने हिन्दी को अपना माध्यम बनाया।

हिन्दी शब्द का व्यवहार भाषा और मानव समुदाय दोनों के लिए होता रहा है। मीर जैसे उर्दू कवि पहले अपनी भाषा को हिन्दी ही कहते थे और इकबाल ने मानव समुदाय के लिए हिन्दी शब्द का व्यवहार किया है–'हिन्दी हैं हमवतन हैं हिन्दोस्ताँ हमारा' यहाँ हिन्दोस्तान सारे देश के लिए इस्तेमाल हुआ है और हिन्दी उसके निवासियों के लिए। हिन्दी और हिन्दोस्तान, दोनों शब्द, व्यापक और सीमित दोनों अर्थों में, इस्तेमाल होते रहे हैं। जातीय भाषा और जातीय संस्कृति के विकास में निर्णायक तत्व शहर के लेखकों की अपनी अपनी शैलियाँ नहीं हैं, वरन् जनता की बोलचाल, उसकी संस्कृति है। निर्णायक तत्व वही है। इस तत्व पर फैलेन जैसे विद्वानों ने ध्यान दिया था।

१९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब हिन्दी-उर्दू का अलगाव बढ़ रहा था, उस समय फैलेन ने गाँवों में जाकर, शहरों के बाजारों में घूमकर जनता की बोली बानी का अध्ययन किया था। लॉक और वर्ड्स्वर्थ की परम्परा से प्रभावित इस विद्वान ने १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अपना कोश बनाया था। उसके छपने से पहले उसकी विज्ञप्ति में उन्होंने कहा था : "भाषा की संपदा उसके बोलचाल वाले रूप में है। यह रूप कितना समृद्ध और भाव विचार प्रकट करने में कितना समर्थ है, इसे वे लोग जानते होंगे जो पूरब की दुनिया के संवेदनशील और कल्पनाप्रिय निवासियों के दैनिक व्यवहार की भाषा के विभिन्न रूपों को पहचानते होंगे। भाषा को उसकी पूर्णता में प्रस्तुत करना है तो उसके श्रेष्ठ भाग को छोड़ा नही जा सकता। जनता की सजीव बोली-बानी हमारे कोषों में प्रायः है ही नहीं। उसके बदले अरबी, फारसी और संस्कृत के शब्द उनमें भर दिये जाते हैं जो न लिखने में काम आते हैं, न बोलने में, या बहुत ही कम काम आते हैं। उन भाषाओं के कोशों से अजनबी शब्दों को छाँटना और देशी भाषा की शब्द सूची पर उन्हें चिपकाना, जिसके वे अगं नहीं हैं, किताबी मौलवियों और पंडितों के मनोरंजन का खासा काम है। यही वे तानाशाह हैं, जिन्होंने जनता की मातृभाषा को देशनिकाले की सजा दी है और उसकी जगह ऐसी नकली भाषा गढ़ी है, जिसमे

आम जनता और शासक वर्ग एक दूसरे से अलग हो गये हैं । किताबों, कानूनी कार्रवाई और सरकारी व्यवहार से बोलचाल की भाषा को अलग रखने में इन्होंने एँड़ी चोटी का जोर लगा दिया है । जिसे वे पूरी तरह खदेड़कर आँखों से ओझल नहीं कर पाये, उसे उन्होंने तोड़-मरोड़कर कुचल डाला है । एक जानदार भाषा, जिसमें बड़ी रवानी थी, उनके हाथों बेदम हो गयी है । उसमें जो आग थी, जो प्राण थे, उसके बदले बेजान शब्द बिठा दिये हैं । अजीब अरबी आवाजें जो प्रायः जनता के लिए बेमानी हैं, संस्कृति के ठंडे निर्जीव ढेले, जो बोलते नहीं, मन को मोहते नहीं। उन्हें अपनी मातृभाषा पर शर्म आती है । वे दिखाते हैं कि मातृभाषा जैसी घटिया चीज से उन्हें वास्ता नहीं है । शाही काम से अब वे जिन महलों और दरबारों में दाखिल हो गये हैं, उनमें बचपन की कमजोरियों को घुसने नहीं देते । पर वे घर में एक बोली बोलते हैं, बाहर निकलकर दूसरी । घर के एकांत में जब दिल के फफोले फोड़ते हैं, तब अपनी जानदार देशी बोली ही बोलते हैं। जब नये लोगों के बीच आते हैं और जिन्दगी की घिसी पिटी बातें दोहराते हैं या वे भाव प्रकट करते हैं जो उनके हृदय में नहीं है, तब खूब चमकीले, भड़कीले, विदेशी शब्दों से खुद को ढँक लेते हैं । इससे उनकी शोभा बढ़ती है और उनके विचारों पर परदा भी पड़ जाता है । वे अपने मुख से उन पोथी-पंडितों की प्रशंसा में जमीन आसमान के कुलाबे मिलाते नहीं अघाते, जो विचित्र अरबी रूप विकारों का जाल बुनने में या फारसी पदों की धाराप्रवाह समास रचना में अथवा संस्कृत की गंभीर घोष वाली रहस्यमयी पदावली प्रस्तुत करने में कुशल हैं ।'' ये हैं फैलेन के विचार जो उनकी विज्ञप्ति के आधार पर मैंने भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा पुस्तक में उद्धृत किये थे ।

फैलेन आगरे के कवि नज़ीर के बहुत बड़े प्रशंसक थे । उनकी कविताएँ उन्होंने लोगों की ज़बान पर देखी और सुनी, तब उन्होंने कहा कि मुझे विश्वास हो गया कि महान कवि जनता में लोकप्रिय भी हो सकते हैं । लोकसाहित्य की वह परंपरा नज़ीर के साथ मर नहीं गयी । हिन्दी उर्दू से छाँटकर ऐसा काफी साहित्य प्रकाशित किया जा सकता है, जिसकी भाषा के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ हिन्दी उर्दू से अलग है या उर्दू हिन्दी से अलग है। कुछ लोग हिन्दी उर्दू के अलगाव को शाश्वत सत्य मानते हैं । उस पर बहुत ज़ोर देते हैं । जनता की बोलचाल में जो एकता है, उसकी संस्कृति में जो साहित्य रम गया है, उस पर वे ध्यान नहीं देते । एक परंपरा जोड़नेवाली है और एक परंपरा तोड़नेवाली है । दोनो यथार्थ हैं। देखना यह चाहिए कि इनमें कौन सी परंपरा जीवंत है, कौन आगे विजयी होनेवाली है, इस परंपरा के साथ कौन-कौन से सामाजिक तत्व जुड़े हुए हैं।

जो अलगाव की परंपरा है, उसके साथ सामंती और साम्राज्यवादी तत्व जुड़े हुए हैं। वे नहीं चाहते कि जनता एक हो और मिलकर अपनी संस्कृति का विकास करे। लेकिन जो उत्पादक हैं, खेतों और कारखानों में काम करते हैं, वे एक भाषा के बिना अपना काम नहीं चला सकते। भाषा और संस्कृति की बुनियाद वे लोग हैं।

आज साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, सामंती अवशेष बहुत ताकतवर मालूम होते हैं, लेकिन दिन पर दिन वे भीतर से टूट रहे हैं और जनता की शक्ति बराबर बढ़ रही है। जो इस ज्ञानशक्ति का भरोसा करेगा, वह हिन्दी के विकास में योगदान करेगा! जो समझेगा कि जनता तो निकम्मी है, वह कभी विजयी नहीं हो सकती, पूँजीवाद स्थायी है, वह हिन्दी के विकास में रोड़े अटकायेगा। फैलेन मार्क्सवादी नहीं थे, किन्तु वह इंग्लैंड की प्रगतिशील भौतिकवादी दार्शनिक परंपरा से प्रभावित थे। जो उनके अन्य देशवासी नहीं देख सके। कोशकार जिस सत्य को आँखों से ओझल कर रहे थे, उसे उन्होंने देखा था। अब से सवा सौ साल पहले उन्होंने जो बातें कही थीं, वे जितनी सच उस समय थी उतनी ही सच आज भी है।

दिल्ली विश्वविद्यालय की गोष्ठी के एक सत्र की अध्यक्षता करते हुए सिद्दीकुर रहमान किदवई ने हिन्दी उर्दू के बारे में कहा–"हिन्दी उर्दू का रिश्ता बहुत अजीब है। दोनों बहुत एक जैसी हैं, फिर भी अलग हैं। एक ज़माने में उर्दू को हिन्दी ही कहा जाता था। मीर ने उर्दू को हिन्दी ही कहा है।" जो लोग हिन्दी उर्दू को नज़दीक लाने की कोशिश करते हैं, उनके लिए किदवई ने कहा–"आजकल की प्रैक्टिकल रियलटीज़ को सामने नहीं रखा गया है। लिपि का बदलना, आवाज़ों का बदलना, यह सब संभव नहीं है। दोनों के पीछे अपनी एक साहित्यिक, सांस्कृतिक परंपरा है।" यह जो प्रैक्टिकल रियलटीज़–व्यावहारिक यथार्थ–की बात है, उसके अन्तर्गत फिल्मों की दुनिया पर भी निगाह डालना चाहिए। लाखों आदमी हिन्दी फिल्में देखते हैं। उनकी भाषा कहाँ हिन्दी है, कहाँ उर्दू है, यह बताना बहुत मुश्किल होता है। फिल्मों की भाषा किसी को पसंद हो या नापसंद हो, यथार्थ यह है कि लाखों आदमी उस भाषा को समझते हैं, सुनते हैं और उससे उन्हें आनन्द मिलता है।

हरी-हरी दूब और लाचार क्रोध

कुबेरनाथ राय

कुछ वर्ष हुए मैंने भी इस धरती पर घासपात की तरह जन्म लिया था–बिना किसी तरह की असाधारणता का सौभाग्य मुकुट पहने, मणि-प्रमालों के परिवेश से अति दूर, एवं उनके बीच जो गेहूं, जौ, ज्वार-बाजरा की खेती से कहीं अधिक मन लगाकर 'नागदन्तों, विपदन्तों की खेती' किया करते हैं। यों, अपने हिन्दुस्तान के हिसाब से घासपात की तरह जन्म लेना कोई बेइज्जती की बात नहीं। यह एक से एक बेहया घासों का देश है । लाख कुचलो, रौंदो, काटो, चीनी चटाओ, मट्ठा, पिलाओ, पर सब बेकार ! रुदन और मरन यहां की हरीतिमा नहीं जानती । जीवन कितना हठी है और मृत्यु कितनी पराजित, लाचार और दीन ! यह कोई हिन्दुस्तानी हरीतिमा से सीखे । इन सब बेहया घासों में सबसे मामूली सबसे पददलित और उत्पीड़ित, पर सबसे इज्जतदार है, हरी-हरी दूब। इस देश का कोई मांगलिक कार्य नहीं जिसमें हल्दी और दूब की जरूरत न पड़ती हो । यह हवा-पानी की तरह सर्वत्र बेमोल मिलती है । लगता है कि हिन्दुस्तान के दिल पर विधाता ने खीझ में आकर इसकी 'सहज', 'निरर्थक' खेती की है । और 'सहज' खेती ही करनी थी, तो गेहूं उपजाते, जिसकी सार्थकता निर्विवाद है । पर अस्तित्ववादी दर्शन की मौज में आकर यह निरर्थक खेती कर डाली! और उस विधाता से भी मनमौजी निकली यह हिन्दुस्तानी जनता, जिसने उठाकर इसे प्रभु के शीश पर चढ़ा दिया और भक्तिपूर्वक प्रार्थना की–'हे दूर्वा, तुम्हारा जन्म क्षीरसागर से हुआ है! तुम विष्णु आदि सब देवताओं को प्रिय हो ।' दूर्वा मन्त्र : इसे भी समुद्र कन्या बना दिया ।

'विष्णवादिसर्वदेवानां दूर्वे त्वं प्रीतिदा यदा ।
क्षीरसागरसम्भूते बंशवृद्धिकरी भव ॥'

'क्षीरसागरसम्भूता' यानी महिमामयी लक्ष्मी की छोटी बहन, और मोती, माणिक, प्रबाल जैसे जिसके भाई हैं । पर स्वभाव में कितना अन्तर है! कहां रत्नजटित झलमल करती इन्द्रधनुषी लीला-वधू लक्ष्मी और कहां यह धीर, श्यामल, दीन दूर्वा जो कच्चे दूध की तरह तथा सादे नग्न कौमार्य की तरह पवित्र है, जो प्रभु की ऐश्वर्य मूर्ति नहीं, उनके शील-सौंदर्य की प्रतीक है । कुछ अपने चरित्रबल के कारण और कुछ तुलसीदास की लेखनी के जोर से रामचन्द्र हमारे साहित्य में शील-सौंदर्य के सर्वोच्च प्रतीक बन गये हैं । और सर्वत्र पुराणों ने इसी धीर,

श्यामल समर्पित दूर्वा का सम्बन्ध उनके सहज शोभा-वपु से जोड़ा है 'रामं दूर्वादलश्यामं, पद्माक्षं पीतवाससा।' इससे बढ़कर और क्या इज्जत दी जा सकती है कि हिन्दुस्तान के तरल मनमौजी स्वभाव ने अपने मन के सर्वाधिक निकट रहने वाले 'राम' की अभिव्यक्ति के लिए इसी गरीब दूर्वा से रूप और रंग की रचना की ।

सौभाग्यवृद्धि, लाभशुभ आदि शब्द बड़े ही पवित्र शब्द हैं। दूर्वामन्त्र में कहा गया है कि 'हे दूर्वा, तू वृद्धि कर!' यह पैरों तले कुचली जाती है, जानवर चर डालते हैं, वैरागी ग्रीष्म का पिंगल, धूसर क्रोध इसे जला डालने की कोशिश करता है, क्योंकि उसके औघड़ मन को सौभाग्य की हरीतिमा बर्दाश्त नहीं । पर इसकी जड़ें पाताल लोक के अमृत कुम्भ तक गयी हैं, इसकी नरम फुनगियां चोंच उठा कर नील आकाश के ऋत् का भक्षण करती हैं, दसों दिशाओं से प्राणों का पान करती हैं। अत: यह सदाबहार हैं, मरती नहीं, झुलस भले ही जाये, उदास भले ही हो जाये– पर यहां न तो रुदन है और न मरण है। यह हमारी धरती पार्वती रूपिणी है। इसका सौभाग्य स्थाणु, ठूंठ और नीरस हो जाता है, पर है वह अविनाशी । वह मरता नहीं। ज्ञान और शृंगार दोनों का जन्म उस की दक्षिणा-मूर्ति से होता है । दूर्वा भी अपने उपर्युक्त गुण के ही कारण सौभाग्य का प्रतीक मानी गयी है । वैदिक काल में वरमाला दूर्वा और मधूक को एक में गूंथ कर बनाते थे । आज भी जन्म, विवाह या प्रत्येक मांगलिक अवसर पर इस की उपस्थिति अनिवार्य होती है । शालिग्राम के शीश पर तुलसी पत्र के साथ-साथ यह भी विराजती है ।

सदाबहार तो और भी घासें हैं । केवल दूर्वा ही सदाबहार नहीं। इधर विकास-विभाग वालों ने पूर्वी उत्तर प्रदेश में एक झाड़ीनुमा लम्बी घास प्रचलित की है, बाग या खेत के चारों ओर रक्षा-पंक्ति के तौर पर लगाने के लिए। इसका नाम रखा गया है 'सदाबहार' । यह बड़ी ही थेथर और बेहया घास है। सारी ऋतुओं में हरी-भरी रहती है। एक टहनी कहीं फेंक दीजिए अपने आप बढ़ जायेगी और जाने का नाम नहीं लेगी। इसका मूलोच्छेद करना चाणक्य के लिए भी कठिन होगा, चाहे वे इस की जड़ों को चीनी चटायें या मट्ठा पिलायें । बचपन में पढ़ा था कि चाणक्य कुश के जंगलों का समूल संहार करने के लिए उसकी जड़ खोद कर मट्ठा डाला करते थे। इधर एक जगह पढ़ा कि नहीं, चीनी डाला करते थे, जिससे चींटियां आकर उसकी जड़ ही खा जायें। मैं समझता हूं चीनी चटा कर मार डालने की शैली चाणक्य के व्यक्तित्व के अधिक अनुरूप है। पर विकास-विभाग द्वारा प्रचारित रक्तबीज के इस वनस्पति संस्करण के लिए, चाणक्य से भी अधिक पैनी धारदार बुद्धि की जरूरत पड़ेगी। चीनी और मट्ठा मौर्ययुग में सस्ता रहा होगा।

शायद मुफ्त मिल जाता होगा। पर आज की बात और है। यह 'सदाबहार' इतनी बेहया घास है कि हमारे गांव के एक ग्वाले ने इसकी दो चार सूखी टहनियों का उपयोग दूसरी घासों के साथ अपने घर की छाजन के लिए किया। बरसात आयी और पहली वर्षा के चार-पांच दिन बाद ही रक्तबीज की ये सन्तानें खपरैल फोड़कर छत पर अंकुरित हो गयीं। दो हफ्ते बाद ही दशमुख रावण की तरह गर्वोन्नत शीश लहलहाने लगीं उस बेचारे के मकान की छत पर। बेबीलोन की रानी का लटकता बाग मात खा गया। लगता था मानो-छत पर एक लंका बस गयी हो और शेष जगत् के अस्तित्व को चिढ़ा रही हो। इसी से हमारे क्षेत्र की जनता ने इस घास का नया नामकरण-संस्कार 'बेहया' कहकर दिया है। हमारे जिले में 'सदाबहार' से ज्यादा प्रचलित 'बेहया' ही हो गया है। यही नहीं, अब कोई-कोई विकास-विभाग को भी 'बेहया' विभाग कहते हैं और जहां तक मैं समझता हूं यह अभिव्यक्ति भी कम सार्थक नहीं।

पर दूब सदाबहार होते हुए भी 'स्व' के निर्मम रूप से निरपेक्ष है। प्रभु के शीश पर चढ़ती है, सर्वत्र पूजित होती है, पर पैर के तले कुचले जाने पर भी रोग-क्षोभ से भर कर चुभती नहीं। यह अपने अस्तित्व को ऐसा साधारण किये रहती है कि किसी को खटकता नहीं। अपराजेय 'स्व' की धनी होती हुई भी, जगत् को, सृष्टिकर्त्ता को, बेहया 'सदाबहार' की तरह मुंह नहीं चिढ़ाती। 'स्व' का लोक के लिए लोप कर देने में– छोटे 'स्व' को किसी बृहत्तर सत्ता के लाभ के लिए लोप कर देने में वह निरन्तर संलग्न रहती है। और इसी महासमर्पण की सिद्धि के रूप में इस की जड़ें इस प्रकार धरती-गर्भ के अमृत-कुम्भ के भीतर तक पहुंच गयी है कि ग्रीष्म में ऊपर-ऊपर झुलस जाने पर भी पहली झड़ी के बाद ही यह हरी-भरी हो उठती है। इसके 'स्व' का नया शृंगार हो उठता है। पर यह शृंगार भी समर्पण की वस्तु है, गर्व की वस्तु नहीं। इसकी ऊंचाई भी विनम्रताभरी ऊंचाई है, 'दूर्वाचल श्याम' राम की तरह।

हिन्दुस्तान का भी मन अजीब है। यह वनवासी राम को पूजता है, पत्थर को पूजता है, घासपात को पूजता है, सच्चा हिन्दुस्तानी मन राजसिंहासन और सोने को ज्यादा आदर नहीं देता है। लट्ठे की तरह कोई बढ़कर बड़ा हो गया है, इसी से वह पूज्य है, सच्चा हिन्दुस्तानी मत ऐसा कभी नहीं स्वीकारता। यहां तक कि दरबारी कवि भी जिन्हें अर्थ और काम का अनुचर होना चाहिए, आखिरी मोर्चे पर जाकर सोना और सिंहासन को भूल जाते हैं। 'ममापि च क्षपयतु नीललोहितं, पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः' कहकर कोई मुक्ति मांगता है, तो 'मो सम्पत्ति यदुपति सदा विपति विदारन्हार' कहकर कोई भक्ति मांगता है। यदि उसकी गिरा प्राकृत जन का गुणगान करती भी है तो 'शिवराज' जैसे लोकनायक का–पुण्य पवित्र शिवा

सरजा-जस न्हाइ पवित्र भई मम बानी'—उस पवित्र कीर्ति में वाणी को स्नान करा करके पवित्र करने के हेतु। जिन्होंने ऐसा नहीं किया है वे सच्चे हिन्दुस्तानी मन के प्रतिनिधि नहीं। उनमें मिलावट है और उनका समूचा कृतित्व 'डालडा' है। 'स्व' को ताड़ की तरह बनाने वाले को सबसे अक्खड़ ढंग से कबीर ने दुत्कार दी है :

"बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे ताड़ खजूर।

पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर।"

प्रभु यदि बड़ा बनने का अवसर दे, तो बट-पीपल बनो, रसाल बनो। और यदि नहीं अवसर मिला, तो सन्तोष करके दूब बनो। तुम्हारी लम्बाई-चौड़ाई-मुटाई तुम्हारा अन्तःकरण, तुम्हारा हृदय, तुम्हारी महानता का मापदण्ड होगा। परिवेश की चिन्ता न करके अन्तः सत्य की चिन्ता करो। यह सनातन हिन्दुस्तानी बोध :

प्राचीन बुद्धिजीवी के इस अक्खड़पन के पीछे कौन-सी ताकत थी? वह क्या है जो उसे इतना साहसी बनाये रखती थी कि वह सोने और कुर्सी के प्रताप की कीमत एक रोम के बराबर भी नहीं आंकता था और मौत को वह साधारण घटना भर मानता था? वह है 'आस्तिक आस्था'। 'जो पतराखन हार है माखन चाखनहार!' पर आज के परिवेश में जब प्राइमरी स्कूल से एम.ए. तक जो कुछ हमें पढ़ाया गया उसका उद्देश्य ही है 'संशय' और 'प्रश्न' अर्थात् आलोचनात्मक दृष्टि का विकास, क्या यह आस्तिक आस्था सम्भव है? हमें जो कुछ शिक्षा दी गयी है। वह न केवल प्रजातन्त्र, समाजवादी दृष्टि, आदि ईश्वर-निरपेक्ष मूल्यों की शिक्षा है, बल्कि वह प्रगति, डार्विन, विकासवाद, प्रतियोगिता, अस्तित्व के लिए संघर्ष ('स्ट्रॅगल फॉर एग्जिस्टेन्स') आदि नारों के माध्यम से नैतिकता-निरपेक्ष शिक्षा है। ऐसी अवस्था में आस्तिक आस्था या ईश्वर की बात करना ही हमारी दुरवस्था से मजाक है। परन्तु भीतरी शक्तियों के विकास के लिए, अन्तर्बल के विकास और उन्नयन के लिए एवं मानसिक दृढ़ता के लिए हमारा जीवन किसी आस्था की अपेक्षा करता है। आस्था कोई जरूरी नहीं है कि वह 'ईश्वर' या दैवी सत्यों में ही हो। हम ईश्वर के स्थान पर लोकतन्त्र में अपनी आस्था विकसित कर सकते हैं। यदि आज लोकतन्त्र में आस्था होती और हम लोकतन्त्र के प्रति वफादार होते तो कबीर-तुलसी वाला अन्तर्बल हममें भी होता और हम कह सकते थे—"क्या करेगी तुम्हारी प्रतापशाली कुर्सी? और उसका महिमामय सोना क्या कर लेगा? मैं अन्याय का विरोध करूंगा ही। मेरा रक्षक लोकतन्त्र है। जब तक संविधान है और लोकतन्त्र है, हम सुरक्षित हैं !"

पर आज वर्षों के लोकतन्त्री शासन के बावजूद भी ऐसा कहने की हिम्मत नहीं पड़ती। विश्वास मर गया है। विश्वास मरने के कई पार्थिव और मजबूत कारण हैं। यह विश्वासहीनता आज किसी व्यक्तिवादी के पीड़ा-रस भोग या आत्मपीड़न-सुख से नहीं जन्म लेती, बल्कि एक समष्टिगत अनुभव है। अतः यह सही है। –यह अनास्था तथ्य है, क्योंकि कम से कम लोकतन्त्र के सन्दर्भ में, जो आज के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड है, इसकी समष्टिगत अनुभूति और अनुभूतिगत ईमानदारी से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसे परिवेश में भारतीय बुद्धिजीवी कुर्सी, सोना, ताड़-खजूर को उस अक्खड़ ढंग से, उस आत्मविश्वास से जो कबीर-तुलसी में है, ललकार नहीं सकता है। यों जबान से ललकार भी दे, तो भी उसे अपने जीवन में उतार नहीं सकता। और जिस जबान के पीछे जीवन का सबूत नहीं वह जबान कौड़ी की तीन है। उसकी सार्थकता नहीं।

कहने का तात्पर्य यह नहीं कि हमारे देश में लोकतन्त्र है ही नहीं, या बिल्कुल असफल है। लोकतन्त्र यहां है, पर कुछ ऐसे अस्पष्ट उलझे और रंगबिरंगे मुखौटे पहने है कि इसकी सचाई हमारे विश्वास को प्रेरणा नहीं दे पा रही है। यह हमारी आत्मा और हमारे जीवन को ऐसा दृढ़ मूल नहीं बना पा रहा है और सारी तसवीर प्रेरणाहीन, मामूली, लचर, किसी तरह जीती हुई, अब-तब की हालत में जान पड़ती है। ऐसी अवस्था में यहां वाल्ट ह्विटमन पैदा होना मुश्किल है जो यह कह सके–

'तुम्हारे लिए, ओ प्रिया – 'डेमोक्रेसी'!
तुम्हारे लिए यह सब कुछ!
तुम्हारे लिए मैं गढ़ता हूँ नये छन्द
लिखता हूँ ये नये-नये गीत।'

पर लोकतन्त्र के प्रति औसत बुद्धिजीवी प्रतिबद्ध है अवश्य! हममें लोकतन्त्र के प्रति प्रेम है! हमें यह अपने वर्तमान क्षणों और महान कार्यों के लिए प्रेरणा न दे पाये–यह और बात है। पर जहां कहीं लोकतन्त्र आहत होता है वहां हमारा मर्म पीड़ित हो जाता है। हम क्रुद्ध हो जाते हैं। और क्रोध की लाचारी को सोच-समझकर फिर इसे पी जाते हैं और फिर अपना ही आत्मक्षय करते हैं। सदैव यह आत्मक्षय निराशावाद या ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रतिफल नहीं है (जैसा कि नवलेखन को बदनाम करने वाले अक्सर कहते हैं), बल्कि यह सात्विक क्रोध की लाचारी से भी उपजता है। यह हमारे अन्तर्वासी धीरोद्धत नायक की व्यथा है। यह लाचार क्रोध, यह हमारे धीरोद्धत नायक की व्यथा कभी-कभी व्यंग्य-वक्राघात

का रूप लेती है, तो कभी-कभी सहज रुमाल का रूप धारण कर लेती है और हम इस लाचार क्रोध को किसी भाव-रस में डुबो कर इसे भूल जाना चाहते हैं। मन के ऐसे कमजोर क्षणों में, एक असमिया गायक 'भूपेन दा' का एक गीत स्मरण हो आता है जिसका सारांश कुछ इस प्रकार है :

"ओ मेरी पर्वतवासिनी प्रिया,
तुझे सोने के गहने कहां से लाऊँ?
मेरी माँ ने मुझे झूठ बोलना नहीं सिखाया,
पिता ने मुझे काले बाजार का रहस्य नहीं बताया,
तो पर्वतवासिनी सखी, मैं कहां सोना पाऊँ?
हां, मैं तेरे लिए (खासी जयन्तिया?) पहाड़ियों को पार कर के
एक हीरामन सुग्गा ला सकता हूँ।
मैं तेरे लिए अपने बांसवन से एक बंशी ला सकता हूँ।
ओ मेरी पर्वतवासिनी प्रिया !"

—हरी-हरी दूब के भाई हीरामन सुग्गे और उसकी बहन बांस की बंशी के कारण के पीछे यहां स्वर्ण का तिरस्कार नहीं, बल्कि आहत रोष की लाचारी है। ईश्वर न सही, पर उसकी जगह भरने वाला लोकतन्त्र यदि इतना क्षमतावान होता कि वह अपने में आस्था को जन्म दे सके, तो भारतीय बुद्धिजीवी आहत क्रोध की इस लाचारी को न भोगता। भारतीय बुद्धिजीवी ने द्रोणाचार्य की तरह अभी तक ईमान नहीं बेचा है और हाथों का सौदा नहीं किया है। पर वह लाचारी भोग कर दिन पर दिन अपना आत्मक्षय कर रहा है। यह एक 'ट्रेजेडी' है। लोकतंत्र में वरण-स्वातन्त्रय है। वह वरण करता है। पर सन्दर्भ ऐसा है कि वरण अर्थहीन हो जाता है ।

पर्यावरण संरक्षण

शुकदेव प्रसाद

पर्यावरण केवल विकासशील राष्ट्रों की ही नहीं, समूचे विश्व की समस्या है, क्योंकि संपूर्ण वसुधा एक है और उस पर रहने वाले सारे जीवधारी पर्यावरण में हुए किसी भी बदलाव से अवश्य ही प्रभावित होंगे। कहने को तो हमारे चारों ओर का वायुमंडल, जिसमें हम रहते हैं और अन्य जीवधारी, सब मिलकर पर्यावरण (environment) बनाते हैं; किंतु वास्तव में पर्यावरण बड़ा व्यापक शब्द है । पर्यावरण का तात्पर्य उस समूची भौतिक एवं जैविक व्यवस्था से है जिसमें जीवधारी रहते हैं, बढ़ते-पनपते हैं और अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विकास करते हैं। प्रकृति अपनी ओर से सभी संघटकों का अनुपात हमेशा ठीक बनाए रखने की भरसक चेष्टा करती है; लेकिन मानव ने प्रकृति को छेड़कर उसकी मूल संरचना में, व्यवस्था में दखलंदाजी की है और फलस्वरूप पर्यावरण की बिगड़ती दशा आज समूचे सभ्य संसार के लिए चर्चा का विषय है।

विकासशील राष्ट्र होड़-सी लगाकर अधिकाधिक औद्योगीकरण करते जा रहे हैं, जिसके कारण ऊर्जा के इन प्राकृतिक भंडारों का खुलकर अपव्यय हो रहा है। ये भंडार सीमित हैं और कुछ वर्षों में समाप्त हो जाएंगे। अभी भी सारी दुनिया भीषण ऊर्जा संकट के दौर से गुजर रही है और ऊर्जा के नये स्रोत खोजे जा रहे हैं। इस प्रकार फॉसिल ईंधनों का विनाश हमारे लिए दो तरह से घातक है–(1) ऊर्जा की कमी और (2) वातावरण में कार्बनडाइआक्साइड की वृद्धि।

कोयला बनाने के लिए तथा खेती और बस्तियों का विस्तार करने के लिए वनों की अंधाधुंध कटाई हो रही है। जगलों के पेड़-पौधे वायु की कार्बन डाइआक्साइड का उपयोग अपना खाद्य तैयार करने में कर लेते हैं; लेकिन वन-विनाश होने से कार्बन डाइआक्साइड की वृद्धि रोकनी असंभव प्रतीत होती है। वन-विनाश से पहाड़ी क्षेत्रों में भू-क्षरण और भू-स्खलन होता है तथा मैदानों में नदियों में प्रति वर्ष बाढ़ें आती हैं।

स्पष्ट है कि हमने प्रकृति का दोहन अपने उपयोग के लिए अविवेकपूर्ण तरीके से किया है। अत: दोषी हम हैं और इसी नाते परिणाम भी हमें ही भुगतना होगा।

हम प्रकृति की संतान हैं, स्वामी नहीं

वास्तव में हम प्रकृति की संतान हैं और प्रकृति हमारी पोषक-रक्षक। पर हमने

उसे मात्र भोग्या समझा, उस पर अपना प्रभुत्व जताना चाहा। यही हमने भूल की। प्रकृति का स्वामी बनने की लालसा ही हमारे पतन का, या यों कहिए कि मानव और प्रकृति के बीच उत्पन्न खाई का कारण है।

प्रो. शूमाखर अपनी बहुचर्चित कृति 'स्माल इज ब्यूटीफुल, में टाम डेल और वर्नन गिल कार्टन की 'टाप स्वाएल एंड सिविलिजेशन' (1955) से उद्धृत करते हैं–

"सभ्य मानव लगभग सदा ही अपने पर्यावरण पर अस्थायी प्रभुत्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त करता रहा है। उसकी मुख्य कठिनाइयां तभी आरंभ हुई जब वह इस भ्रम का शिकार हो गया कि उसका प्रभुत्व अस्थायी नहीं, बल्कि स्थायी है। वह प्रकृति के नियमों को ठीक से समझने में गलती करते हुए भी अपने-आपको दुनिया का मालिक समझने लगा।

"मानव सभ्य हो या बर्बर, प्रकृति की संतान है, उसका स्वामी नहीं। यदि उसे अपने पर्यावरण पर प्रभुत्व बनाए रखना है तो उसके लिए कतिपय प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलना आवश्यक है। वह जब प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करता है, तभी वह उस प्राकृतिक पर्यावरण को नष्ट कर बैठता है जिस पर उसका अपना जीवन निर्भर है, और जब उसका पर्यावरण तेजी से बिगड़ने लगता है तब उसकी सभ्यता का पतन भी होने लगता है।"

किसी ने यह कहकर इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा बताई है कि "सभ्य मानव पृथ्वी के एक छोर से चलकर दूसरे छोर पर पहुंच गया है और वह जहां से भी गुजरा है, वहीं भूमि मरुस्थल हो गई है।" इस कथन में कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है, लेकिन यह बेबुनियाद नहीं है। सभ्य मानव जहां भी लंबे समय तक रहा है उसने वहां की भूमि को बर्बाद कर दिया है। इसीलिए प्रगामी सभ्यताएं स्थान परिवर्तन करती रही हैं । पुराने बसे प्रदेशों की सभ्यताओं के पतन का यही मुख्य कारण रहा है। इतिहास की सभी प्रवृत्तियों का भी यही मुख्य कारण रहा है।

औद्योगिक संस्कृति और बढ़ती आबादी

ऊर्जा हमारे जीवन का पर्याय है। औद्योगिक विकास का मूलाधार भी यही है। लेकिन विकास के साथ ही हमने प्रकृति को खोखला कर डाला है। प्राकृतिक संपदा का ऐसा खुलकर अपव्यय किया है जिसकी भरपाई संभव नहीं है। हमने तात्कालिक लाभ के लिए दूरगामी दुष्प्रभावों को ताक पर रख दिया है, क्योंकि टेक्नालाजी के विकास के जरिए आधुनिक विकास की दौड़ में हम लगे हुए हैं।

पूर्वकाल की सभ्यताओं के साथ बात उलटी थी। वे प्रकृति को प्राकृतिक संसाधनों का खजाना मात्र नहीं मानती थी। उसके हर रूप में देवी स्वरूप का दर्शन करती थीं, लेकिन टेक्नालाजी से उद्‌भूत सभ्यता उपभोगवादी संस्कृति की कायल है। उसकी दृष्टि में प्रकृति तो केवल उसके लिए संसाधनों का भंडार मात्र है, जिसके उपयोग की उसे पूरी छूट है। यही भ्रम परेशानी का कारण बन गया। थोड़े से मुट्ठीभर विकसित राष्ट्रों ने अपने स्वार्थ साधने के लिए सारी दुनिया के लिए संकट उत्पन्न कर दिया है। चूंकि प्रकृति या पर्यावरण सार्वभौम (Universal) है और सभी जीवधारी उसके अभिन्न अगं है, अत: किसी एक की कुचेष्टा दूसरे के लिए कष्ट का कारण कभी भी बन सकती है। यदि आज भौतिकवादी सभ्यताओं के अनुरूप पाश्चात्य जगत् के मानव का जीवन-स्तर ऊंचा है तो वह अन्य विकासशील राष्ट्रों के साधारण नागरिकों के अधिकारों पर अत्याचार करके ही। प्रो. गुन्नार मर्डल ठीक ही कहते हैं कि "पश्चिमी राष्ट्र अपव्यय, प्रदूषण और धरती के संसाधनों के अंधाधुंध दोहन की भयानक कीमत पर ही अपने जीवन-यापन का स्तर ऊंचा बनाए रख पा रहे हैं।"

वस्तुतः आज उद्योग हमारी समृद्धि के मापदंड बन गये हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका, जिसकी जनसंख्या संपूर्ण विश्व की केवल 7 प्रतिशत है, संपूर्ण ऊर्जा 32 प्रतिशत यानी एक-तिहाई उपयोग करता है, और विश्व की जनसंख्या के 20 प्रतिशत वाला भू-भाग, भारत, संपूर्ण संसार में प्राप्त कुल 'ऊर्जा का मात्र 1 प्रतिशत उपयोग करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक अमेरिकी नागरिक एक भारतीय की तुलना में 40 गुनी अधिक ऊर्जा व्यय करता है। स्वाभाविक है, यह अति औद्योगिक संस्कृति, जो मात्र उपभोगवादी है, प्रकृति को छिन्न-भिन्न करने के साथ ही उसमें गैसीय असंतुलन उत्पन्न कर रही है, जो आने वाली पीढ़ियों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बनकर उभरेगा। असंतुलन में कमी आए, फिलहाल ऐसा नहीं लगता। विद्वानों का अनुमान है कि आज से 20-30 लाख वर्ष पूर्व मानव का इस धरा पर प्रादुर्भाव हुआ था, और सन् 1830 तक दुनिया की कुल आबादी केवल एक अरब थी। किंतु अगले सौ वर्षों में ही अर्थात् सन् 1930 तक आबादी दुगुनी हो गई। यानी जितनी जनसंख्या लाखों सालों में उत्पन्न हुई, उतनी इधर के मात्र 100 वर्षों में ही पैदा हो गई। आबादी की बढ़ती रफ्तार ने और गति पकड़ी। अगली एक अरब की वृद्धि केवल 30 वर्षों में ही हो गई। इस प्रकार 1960 तक 8 अरब नर-नारी इस धरती पर हो गये और फिर अगले 15 वर्षों में ही यानी 1975 तक आबादी बढ़कर 4 अरब हो गई। अब अनुमान है कि सन् 2000 तक जनसंख्या लगभग 7 अरब हो जाएगी। इस बेतहाशा वृद्धि का प्रभाव हमारे सामाजिक मूल्यों पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

जीवधारियों का नाश

बढ़ती आबादी के साथ कल-कारखाने, उद्योग भी बढ़ते जा रहे हैं। मोटरगाड़ियां भी उसी अनुपात में बढ़ती जा रही हैं। अति आवागमन और शोर-शराबे के बीच मानव की श्रवण-शक्ति कमजोर होती जा रही है। आश्चर्य नहीं कि आने वाले 2-3 दशकों बाद बच्चे अत्यंत कम सुनने की क्षमता वाले हों अथवा बहरे ही पैदा हों। मिलों, कारखानों के कर्मचारी ढलती वय में इसका स्पष्ट अनुभव करते हैं।

उद्योगों ने वायु, जल और हमारे रोजमर्रा के जीवन में जहर घोल दिया है। इस अभिशाप से हम मुक्त भी हो सकेंगे, यह कहना असंभव है। यदि प्रदूषणरहित टेक्नालाजी का विकास संभव हुआ तो उम्मीद की जाती है कि जनजीवन के स्वास्थ्य की रक्षा हो सके।

बिगड़े हुए पर्यावरण से मानव ही नहीं, अन्य जीवधारी भी आतंकित हैं, जिनकी सहनशक्ति हम-आप से कम है। इसका अहसास हमें होता है किसी जीव की विलुप्ति से। स्वीडन के प्राणीविज्ञानी कार कुरी लिड्हल के अनुसार इस धरती की लगभग 300 से अधिक जातियां (Species) तथा उपजातियां (Sub-species) लुप्त हो चुकी हैं अनुमानतः वर्तमान सदी में भूमंडल पर कहीं-न-कहीं प्रतिवर्ष एक जाति का लोप हो रहा है। जीवधारियों के विलुप्तीकरण का सीधा संबध हमारे पर्यावरण से है जो उनके प्रतिकूल बनता जा रहा है। प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवधारियों का अस्तित्व खतरे में है। ये सारी परिस्थितियां प्रदूषणजन्य हैं।

मौसम भी बदले

वातावरण में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा बढ़ रही है। फोसिल ईंधन अर्थात् कोयला, तेल के जलने से इस गैस की बड़ी मात्रा वातावरण में विमुक्त होती है। सामान्य स्थितियों में पौधे इसे खींचकर प्राणवायु (आक्सीजन) मुक्त करते हैं। लेकिन वन-विनाश और शहरीकरण की प्रवृति से दिनोंदिन इस प्राकृतिक व्यवस्था में बाधा उत्पन्न हो रही है। फलस्वरूप कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा वायुमंडल में पर्याप्त मात्रा में व्याप्त रहती है। यह गैस धूप को गुजरने देती है, किंतु पृथ्वी के वायुमंडल से ताप को पुनः विकरित नहीं होने देती और इस नाते वायुमंडल का ताप धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि यदि वातावरण में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा इसी प्रकार बढ़ती रही तो अगले 30-40 वर्षों में धरती के ताप में 3^0 से 5^0 तक की अनावश्यक वृद्धि हो जाएगी। फलस्वरूप

शीतोष्ण क्षेत्र रेगिस्तान हो सकते हैं तथा ध्रुवों की बर्फें पिघल सकती हैं, जिससे जल-प्लावन की संभावना हो सकती है ।

हमारे वातावरण में कुछ ऊंचाई पर ओजोन (0_3) की एक परत है, जो सूर्य की पराबैंगनी किरणों से हमारी रक्षा करती है। ये घातक किरणें उस परत में अवशोषित हो जाती हैं और दोषमुक्त धूप हमें प्राप्त होती हैं। यदि यह सुरक्षा-आवरण न होता तो तमाम जीवधारी धूप-ताम्रता (sun-burn) और त्वचा-कैंसर से पीड़ित हो जाते। अभी पता चला है कि बहुत-से उद्योगों से मुक्त होने वाले रसायन, खासकर फ्लोरोकार्बन ओजोन पट्टी में पहुंचकर रासायनिक प्रक्रिया से उसका क्षय करते हैं। यदि इन रसायनों के मुक्त होने की यही दर रही तो अगले 40 वर्षों में धरती की ओजोन पट्टी में कम-से-कम 24-30 प्रतिशत की क्षति हो सकती है जो त्वचा-कैंसर के रूप में मानव तथा पशुओं को क्षति पहुंचा सकती है तथा इसके प्रभाव से वायुमंडल में परिवर्तन हो सकता है, मौसम भी प्रभावित हो सकता है ।

बचाव कैसे करें ?

जरूरत है प्रदूषण-रहित टेक्नालाजी की । विज्ञान और टेक्नालाजी तो आज के युग के अभिन्न अंग हैं जिनसे अलग हो पाना कोरी कल्पना की बात है। उद्योगों का विकल्प भला क्या होगा? हां, हम उद्योगों में ऐसी टेक्नालाजी विकसित करें जो प्रदूषण-रहित हो, अर्थात् औद्योगिक कचरे का विनाश ऐसे ढंग से हो कि वह वायु अथवा जल को प्रदूषित न कर सके।

वन-संरक्षण–एक आंदोलन : वन आदि संस्कृतियों के पोषक तो थे ही, कमोबेश आज भी हैं। वन हमारे रक्षक हैं। इनमें भू-क्षरण तथा भू-स्खलन और बाढ़ें रुकती हैं । ये शोर-प्रदूषण भी कम करते हैं। फैक्टरियों या प्रयोगशालाओं के आसपास वृक्ष रोपे जाने चाहिएं ताकि शोर की मात्रा कुछ तो कम हो। इस प्रकार वन-रोपण को सामाजिक वानिकी का महत्वपूर्ण अंग मानना चाहिए और राष्ट्रीय विकास कार्यक्रम के रूप में अपनाया जाना चाहिए ।

उत्तर भारत में हिमालय के दुःखद वन-विनाश के खिलाफ पहाड़ की महिलाओं ने जो जेहाद छेड़ा है, वह अनुकरणीय है। 'चिपको आंदोलन' अब काफी बढ़ चुका है। इस आंदोलन के प्रणेता श्री सुंदरलाल बहुगुणा ने अपना जीवन वन-संरक्षण हेतु समर्पित कर दिया है (इस वर्ष उन्हें पद्मश्री से विभूषित किया गया है । वस्तुतः यह 'चिपको आंदोलन' में लगे लाख-लाख वन-प्रेमियों का अभिनंदन है । उनके आंदोलन की , उनकी मांग की स्वीकारोक्ति है)। न्यूजीलैंड के 91 वर्षीय

डा. रिचर्ड सेंट बर्बे बेकर (जिन्हें प्रायः वृक्ष-मानव–'मैन आफ दि ट्रीज' नाम से जाना जाता है) चिपको आंदोलनकारियों को बधाई देने भारत आए । आजीवन वृक्षों की सेवा में लगे कर्मयोगी बाबा बेकर 'वृक्ष-मानव' (1922) तथा 'हरित धरती के बच्चे' (1980) जैसी संस्थाओं के संस्थापक हैं । केरल की मूक घाटी (साइलेंट वेली) ने भी राष्ट्र का ध्यान आकर्षित किया है। ऐसे आंदोलन बहुत उपयोगी हैं।

विश्व-चेतना

पर्यावरण सुरक्षा के लिए विश्व-नीति जरूरी है । इसमें संदेह नहीं है कि अलग-अलग कदम उठाकर विभिन्न देश सारी पृथ्वी के लिए विनाशकारी स्थिति पैदा कर सकते हैं । अतः हमें यह मानना चाहिए कि भले हम अलग-अलग देश-जाति के हों, पृथ्वी केवल एक है, प्रकृति सार्वभौम है। हमें केवल अपने लिए नहीं, समूची पृथ्वी के लिए उसको इकाई मानकर कुछ-न-कुछ कदम उठाना पड़ेगा ।

1948 में फ्रांस के फौतेनब्लो नगर में संयुक्त राष्ट्रसंघ की मदद से प्रकृति के संरक्षण का अंतर्राष्ट्रीय संघ (ICUN) स्थापित हुआ था, जो अब विश्व-संरक्षण का संगठन बन चुका है । पर असली कार्य प्रारंभ हुआ संयुक्त राष्ट्रसंघ, विश्व स्वास्थ्य संगठन आदि के सहयोग से 1968 में पेरिस में आयोजित 'जीवमंडल कांफ्रेंस' से। इस कांफ्रेंस में प्रमुख रूप से वैज्ञानिक विशेषज्ञों ने भाग लिया था । इस कांफ्रेंस के बाद विश्व-पर्यावरण के बारे में जो चेतना मुखर हुई थी, उसे 1972 में स्टाकहोम में आयोजित संयुक्त राष्ट्रसंघ की 'मानव पर्यावरण कांफ्रेंस' से और बल मिला और चूंकि इसमें राजनीतिज्ञों की बहुलता थी, इसलिए पर्यावरण की समस्या को विश्व-स्तर पर राजनीतिक संबल प्राप्त हुआ और यह महसूस किया गया कि पर्यावरण संरक्षण हेतु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किए जाने चाहिए। स्टाकहोम में 110 से अधिक राष्ट्रों के प्रतिनिधि मौजूद थे और उक्त अवसर पर राष्ट्रीय सरकारों और अंतर्राष्ट्रीय संगठन के लिए 109 सूत्री सिफारिशें मंजूर की गई । इस सम्मेलन के निष्कर्षों को वैज्ञानिक और राजनीतिक दोनों रूपों में स्वीकृति मिली ।

सारे राष्ट्रों ने पर्यावरण संबधी कानून बनाए । अमेरिकी राष्ट्रपति ने 1969 के राष्ट्रीय पर्यावरण नीति विधेयक पर 1 जनवरी, 1970 को हस्ताक्षर कर इस दिशा में पहल की । 1970 में हालैंड की सरकार ने पर्यावरण की सुरक्षा पर एक श्वेत पत्र में सरकारी पुनर्गठन का आधार पेश किया जिससे पर्यावरण का विभाग स्थापित किया जा सके । 1971 में फ्रांस सरकार ने प्रकृति और पर्यावरण की सुरक्षा का मंत्रालय खोला। इसी प्रकार स्वीडन, कनाडा, जापान तथा अन्य बहुत-से राष्ट्रों में पर्यावरण संबंधी नई एजेंसियां स्थापित की गई ।

दिसंबर, 1980 में भारत सरकार ने भी केंद्र में एक पर्यावरण विभाग खोला है। अपने यहां की बहुत-सी राज्य सरकारों ने भी विज्ञान और पर्यावरण विभागों की स्थापना की है ।

पर्यावरण आज की जटिल एवं ज्वलंत समस्या है। प्रतिवर्ष 5 जून को विश्व पर्यावरण दिवस मनाया जाता है । इस अवसर पर पर्यावरण की समस्याओं पर चर्चाएं की जाती हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ, पगवाश आंदोलन, विश्व वन्य जीव संरक्षण कोष, अंतर्राष्ट्रीय प्रकृति एवं प्राकृतिक संपदा संघ तथा यूनेस्को द्वारा आयोजित "मैन एंड बायोस्फियर" परियोजनाएं पर्यावरण की सुरक्षा के लिए जागरूक हैं और हल ढूंढने में क्रियाशील हैं।

धूमकेतु

गुणाकर मुले

धूम का अर्थ है धुआं और केतु का अर्थ है पताका । इसलिए आकाश का जो दृश्य धुएं की पताका-जैसा दिखाई देता है, उसे 'धूमकेतु' नाम दिया गया है। धूमकेतु को 'पुच्छल तारा' भी कहते हैं । पाश्चात्य ज्योतिष में धूमकेतु को 'कॉमेट' कहते हैं । यह शब्द यूनानी भाषा के 'कोमेते' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है 'लंबे बालों वाला' ।

धूमकेतु शब्द बहुत पुराना है । अथर्ववेद में धूमकेतु व उल्का शब्द आते हैं। महाभारत में भी धूमकेतु के उल्लेख है । एक स्थान पर कहा गया है–"महाभयंकर धूमकेतु जब पुष्य नक्षत्र के पार पहुंचेगा तो भंयकर युद्ध होगा!" इस प्रकार, पुराने जमाने में धूमकेतु को भयंकर खतरे का सूचक समझा जाता था । छठी सदी में हमारे देश में वराहमिहिर एक बड़े ज्योतिषी हुए । उन्होंने अपने 'बृहत्संहिता' ग्रंथ के 'केतुचार' अध्याय में विनाशक धूमकेतुओं के बारे में विस्तार से जानकारी दी है । वराह ने धूमकेतुओं के शुभाशुभ फलों का भी ज्यादा जिक्र किया है । उन्होंने स्पष्ट लिख दिया कि किसी धूमकेतु के दर्शन होने या अस्त होने का काल गणित की विधि से नहीं जाना जा सकता (दर्शनमस्तयो वा न गणितविधिनस्यशक्यते ज्ञातुम्) ।

धूमकेतुओं से दूसरे देशों के लोग भी बेहद डरते थे। इसलिए पुराने ग्रन्थों में इन धूमकेतुओं के बारे में काफ़ी जानकारी मिलती है । 1528 ई. में यूरोप के आकाश में एक धूमकेतु प्रकट हुआ। आम्ब्रोई पेरी ने अपनी 'आकाश के राक्षस' पुस्तक में इस धूमकेतु के बारे में जानकारी दी है । वे लिखते हैं : "यह धूमकेतु इतना भयंकर था कि डर के मारे कई लोग मर गए और बहुत-से बीमार पड़ गए !"

लेकिन अब धूमकेतुओं से न कोई डरता है और न कोई बीमार पड़ता है । अब इन धूमकेतुओं के बारे में हम बहुत-सी बातें जानते हैं । यूरोप के महान ज्योतिषी तीखे ब्राहे ने पहली बार 1577 ई. में सिद्ध किया कि धूमकेतु पृथ्वी से बहुत दूर होते हैं, चंद्रमा से भी अधिक दूर ।

आइजेक न्यूटन के एक मित्र थे एडमंड हेली (1656-1742 ई.) । न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण-सिद्धांत के प्रकाशन में हेली का बहुत बड़ा हाथ था । धूमकेतुओं का

अध्ययन करते हुए हेली इस परिणाम पर पहुंचे कि ग्रहों की तरह धूमकेतु भी हमारे सौर-मंडल के सदस्य हैं और ये सूर्य की परिक्रमा करते हैं।

चूंकि पुराने जमाने में धूमकेतुओं को विनाशक समझा गया था, इसलिए पुराने ग्रंथों में यह जानकारी मिल जाती है कि आकाश में किस समय धूमकेतु दिखाई दिए। हेली ने इस पुरानी जानकारी का अध्ययन किया। उन्होंने जाना कि 1531 ई. और 1607 ई. में धूमकेतु दिखाई दिए थे। 1682 ई. में उन्होंने स्वयं एक धूमकेतु देखा था।
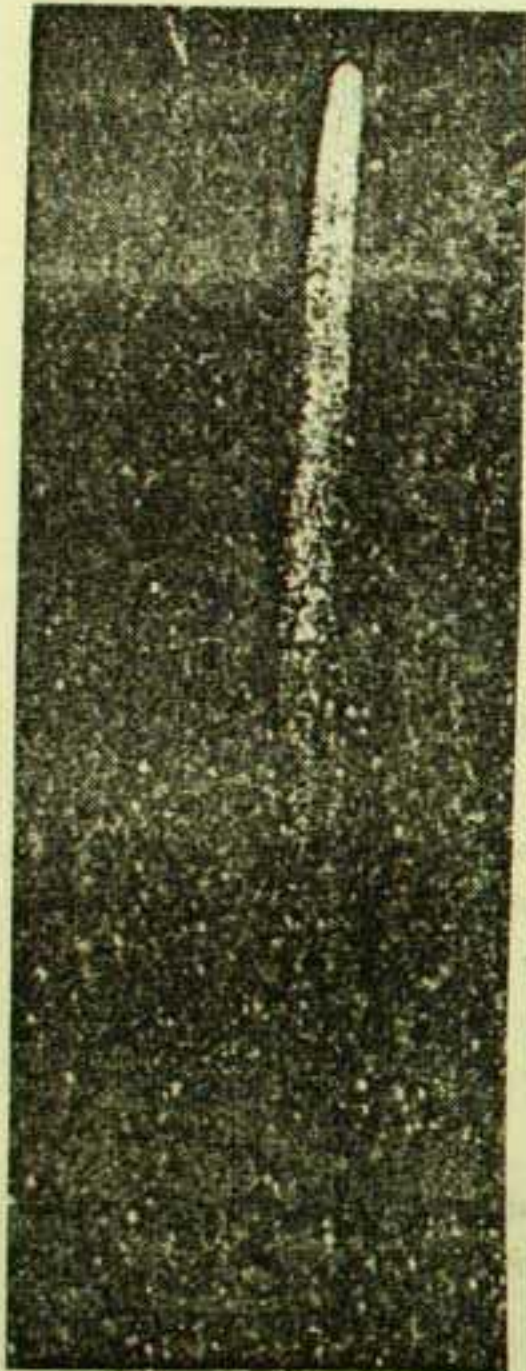
हेली ने सोचा : सूर्य के गुरुत्वाकर्षण के कारण आकाश के ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं और एक निश्चित समय में सूर्य का एक चक्कर पूरा कर लेते हैं। इसी प्रकार धूमकेतुओं को भी एक निश्चित समय में सूर्य का एक चक्कर लगा लेना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि एक निश्चित समय के बाद वही धूमकेतु पुनः आकाश में दिखाई देना चाहिए। हेली ने 1531, 1607 और 1682 में दिखाई दिए धूमकेतुओं पर विचार किया। इनमें 76 और 75 साल का अंतर है। हेली इस नतीजे पर पहुंचे कि यह वास्तव में एक ही धूमकेतु है और सौर-मंडल की दूर की सीमाओं का चक्कर लगा कर 75 या 76 साल में पुनः सूर्य के पास लौटता है। उन्होंने लिखा : "यदि मेरी बात ठीक है, तो 76 साल बाद 1758 ई. में यह धूमकेतु पुनः प्रकट होगा।"

और सचमुच ही 1758 ई. में आकाश में वह धूमकेतु प्रकट हुआ। हेली की भविष्यवाणी सही निकली। सिद्ध हो गया कि धूमकेतु, ग्रहों की तरह, सौर-मंडल के सदस्य हैं और सूर्य की परिक्रमा करते हैं। लेकिन स्वयं हेली अपनी भविष्यवाणी सच होते नहीं देख पाए। 1742 ई. में उनकी मृत्यु हो गई। आज हम धूमकेतु को हेली का धूमकेतु कहते हैं।

हेली का धूमकेतु

हेली का धूमकेतु पिछली बार 1910 ई.में प्रकट हुआ था। यह धूमकेतु नेपच्यून ग्रह की कक्षा के परे जाकर करीब 76 साल बाद पुनः सूर्य के समीप पहुंचता है। इसलिए 1986 ई में पुनः यह धूमकेतु प्रकट हुआ।

खगोलविदों ने अब तक करीब डेढ़ हजार धूमकेतुओं की कक्षाएं निर्धारित की हैं और उनके बारे में जानकारी प्राप्त की है । धूमकेतु के तीन भाग होते हैं- नाभिक, सिर और पूंछ । धूमकेतु का अधिकांश द्रव्य इसके नाभिक में होता है । नाभिक का व्यास आधे किलोमीटर से 50 किलोमीटर तक हो सकता है । धूमकेतु के या नाभिक बर्फ बनी हुई गैसों तथा अन्य पदार्थों के टुकड़ों के मेल से बने होते हैं। धूमकेतु जब सूर्य के समीप पुहंचता है तो सूर्य के ताप से यह गर्म हो जाता है और इसकी बर्फीली गैसें तथा धूलि-कण बाहर निकलते हैं । इससे सूर्य के सामने नाभिक की गैसें फैलकर चमकने लगती हैं और इस प्रकार धूमकेतु का सिर बनता है ।

'जोतो' यान - हेली के धूमकेतु के पास

धूमकेतु के इस सिर का घेरा हजारों-लाखों किलोमीटर हो सकता है । सूर्य से धूमकेतु की दूरी के अनुसार यह सिर भी घटता-बढ़ता रहता है । धूमकेतु के नाभिक से निकली हुई गैसें सौर-वायु अथवा विकिरण के दाब से बहुत दूर तक फैलती हैं और चमकती हैं । इसे ही धूमकेतु की पूंछ कहते हैं । कुछ धूमकेतुओं की पूंछ 20 करोड़ किलोमीटर तक फैल जाती है। चूंकि सौर-वायु अथवा विकिरण के प्रभाव से धूमकेतु की पूंछ फैलती है और चमकती है, इसीलिए यह सूर्य की विपरीत दिशा में रहती है। धूमकेतु सूर्य का चक्कर लगाएगा, परंतु उसकी चमकीली पूंछ हमेशा सूर्य की उलटी दिशा में रहेगी।

सभी धूमकेतु अत्यधिक अंडाकार कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करते हैं । हमने देखा है कि सौर-मंडल के प्रायः सभी ग्रह तथा उपग्रह एक समतल में सूर्य की परिक्रमा करते हैं । पर धूमकेतु इस नियम के अपवाद हैं । ये धूमकेतु ग्रहों के समतल के साथ कई अंशों का कोण बनाते हुए परिक्रमा करते हैं ।

कुछ धूमकेतु बहुत छोटी अंडाकार कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करते हैं । ऐसे धूमकेतु तीन से दस साल के भीतर ही सूर्य की एक परिक्रमा कर लेते हैं । लेकिन ऐसे धूमकेतुओं को अक्सर अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है । सूर्य के प्रभाव से ये जल्दी खत्म हो जाते हैं । जैसे, बिएला का धूमकेतु । यह धूमकेतु करीब सात साल में सूर्य का चक्कर लगाता था और इसे 1832 ई. और 1939 ई. में देखा गया था । 1845 ई. में पुनः इस धूमकेतु का इंतजार हो रहा था । पर देखा गया कि यह दो टुकड़ों में बंट गया है ।

धीरे-धीरे ये दो टुकड़े एक-दूसरे से दूर चले गए । अंत में 1872 ई. में खगोलविदों ने देखा कि जिस स्थान पर इस धूमकेतु को प्रकट होना चाहिए था, वहां से उल्काओं की वर्षा हो रही है । इससे स्पष्ट हो गया कि जो धूमकेतु नजदीक से सूर्य की परिक्रमा करते हैं, वे अंत में नष्ट हो जाते हैं और पृथ्वी जब उनके समीप से गुजरती है तो वायुमंडल में उल्काओं की वर्षा होती है । इससे यह भी पता चला कि जब आकाश के किसी एक स्थान से उल्काओं की वर्षा होती है, तो वे विखंडित धूमकेतु के कण होते हैं ।

सभी धूमकेतु नजदीक से सूर्य की परिक्रमा नहीं करते । बहुत-से धूमकेतु बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेपच्यून व प्लूटो ग्रहों के परे से चक्कर लगाकर लौटते हैं । कुछ धूमकेतु हजारों साल बाद लौटते हैं । लेकिन एक बात निश्चित है । ये सारे धूमकेतु हमारे सौर-मंडल के ही सदस्य हैं । इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां तक धूमकेतु जाते हैं वहां तक सौर-मंडल का विस्तार है ही।

सारे धूमकेतु अत्यंत चपटी अंडाकार कक्षाओं में सूर्य की परिक्रमा करते हैं। कभी-कभी कोई धूमकेतु किसी बाहरी पिंड के प्रभाव से अपनी कक्षा बदल देता है । तब यह सौर-मंडल को छोड़कर बाहरी अंतरिक्ष में भी निकल जा सकता है ।

धूमकेतुओं की रचना के बारे में अब भी कई बातें अज्ञेय हैं । धूमकेतुओं की पूछों में से हमारी पृथ्वी गुजर सकती है, पर उसका धरती पर कोई असर नहीं होता । किसी धूमकेतु के पृथ्वी से टकरा जाने की संभावना नहीं के बराबर है। इसलिए इन धूमकेतुओं से डरने की कोई बात नहीं है ।

सन् 1985 तक धूमकेतुओं का अध्ययन धरती की वेधशालाओं से ही होता रहा। मगर 1985-86 में जब हेली का धूमकेतु पृथ्वी के नजदीक आया तो इसके नजदीक अंतरिक्षयान भेजने की योजनाएं बनीं । सोवियत संघ ने वीहे (वीनस-हेली) नामक दो यान भेजे । ये दोनों यान पहले शुक्र (वीनस) ग्रह के पास पहुंचे और तदनंतर हेली के धूमकेतु के पास, इसलिए इन्हें 'वीहे' नाम दिया गया था।
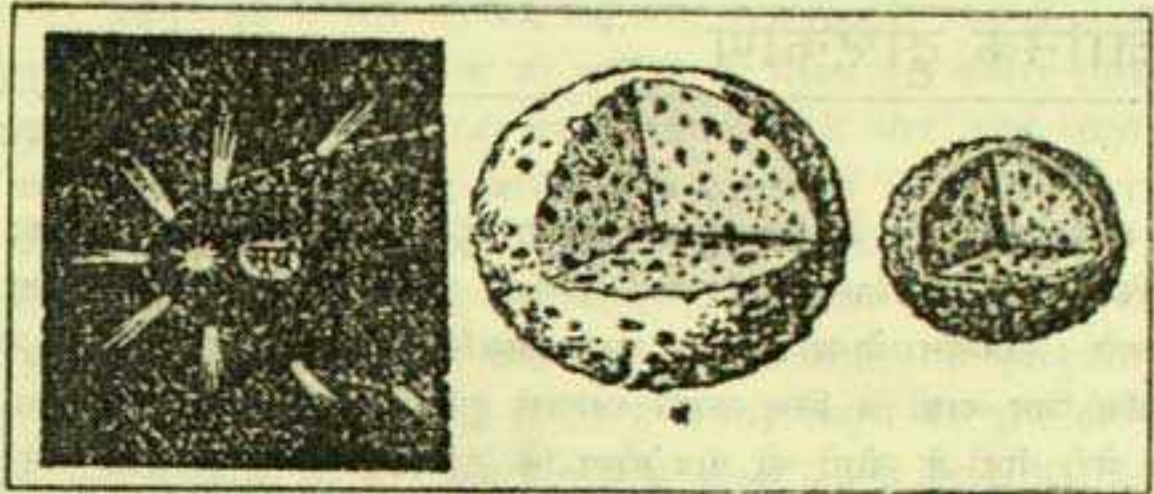
धूमकेतु जब सूर्य के समीप पहुंचता है ।

धूमकेतु नाभिक की रचना : (अ) सूर्य के समीप पहुंचने के पहले; (ब) सूर्य के कई चक्कर लगाने के बाद ।

यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी ने जो यान हेली के धूमकेतु के पास भेजा, उसका नाम जोतो था । जापान ने भी अपने दो यान हेली के धूमकेतु के नजदीक भेजे।

धरती से भेजे गए ये स्वचालित यान मार्च 1986 में उस वक्त हेली के धूमकेतु के पास पहुंचे, जब यह वापस लौट रहा था । बीहे यानों के सहयोग से जोत्तो को हेली के धूमकेतु के ज्यादा नजदीक पहुंचाया गया । इन यानों में स्थापित कैमरों तथा यंत्रोपकरणों ने इस धूमकेतु का नजदीक से अध्ययन किया और जानकारी धरती की ओर भेजी ।

नई जानकारी के अनुसार हेली के धूमकेतु का नाभिक 16x9 किलोमीटर है। इस धूमकेतु से प्रति सेकंड 10 टन धूलि और 30 टन गैसें उत्सर्जित होती हैं जो इसकी लंबी पूंछ का सृजन करती हैं । उसका चक्रण-काल करीब 54 घंटे है ।

हेली का धूमकेतु 2062 ई. में पुनः पृथ्वी और सूर्य के समीप आएगा । तब इसके नजदीक मानव को भी भेजना संभव होगा ।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

डॉ० राजा रमन्ना

सबसे पहले तो मैं यह कहना चाहता हूं कि एक विश्वविद्यालय का कोई औचित्य नहीं रह जाता, यदि वहां योग्यता और श्रेष्ठता को प्राथमिकता नहीं मिलती। स्वतन्त्रता के बाद कुछेक अच्छे विश्वविद्यालय इसलिए बेकार हो गये हैं, क्योंकि जिन कार्यों के लिए उनकी स्थापना हुई थी, उन्हीं को भुलाया जा चुका है। मेरी पीढ़ी के लोगों को याद होगा कि उन दिनों में उच्च शिक्षा पाने वालों की विज्ञान के प्रति रुचि काफी अधिक थी। मुझे याद है कि जब भी कोई प्रदर्शनी लगती थी, किसी प्रयोग का प्रदर्शन किया जाना होता था या किसी लोकप्रिय लेक्चर का आयोजन होता था तो देखने/सुनने वालों की भीड़ जमा हो जाती थी और हॉल खचाखच भर जाते थे।

तीसरे दशक में नोबल पुरस्कार विजेता स्वर्गीय प्रो० सी.वी. रमन जैसी प्रतिभा वाले व्यक्तित्व का वर्चस्व था। फिर दूसरा विश्व युद्ध शुरू हुआ। इतनी बड़ी उथल-पुथल के दौरान लोगों में यह विचार घर कर गया कि विश्व की समस्याओं का समाधान केवल विज्ञान द्वारा ही सम्भव है। जब परमाणु तथा अन्तरिक्ष युग की शुरुआत हुई और पदार्थ (matter) तथा जैविक सेल (living cell) की रचना के बारे में पूर्ण जानकारी हासिल कर ली गई तो सबने ऐसा महसूस किया कि मानो हमने सृष्टि के बारे में सब कुछ जान लिया है। ऐसी धारणा बन गई कि शेष जानकारी हमें बस आने वाले कुछ दशकों में ही मिल जायेगी।

परन्तु आशा के विपरीत ऐसा कुछ नहीं हुआ। अब इस तरह की सोच जोर पकड़ रही है कि एक ओर जहां विज्ञान की अद्‌भुत उपलब्धियों के कारण हम दुनिया के पदार्थवादी पक्ष को समझने में सक्षम हुए हैं वहीं दूसरी ओर विज्ञान मानव व्यवहार को समझने और ब्रहमांड के बारे में पूर्ण जानकारी के लिए पर्याप्त न
होगा। दुर्भाग्यवश इस दृष्टिकोण ने विज्ञान को क्षति पहुंचाई है और उससे भी बुरा यह हुआ कि हमने वैज्ञानिक तरीकों को ही नजरअंदाज करना आरंभ कर दिया है। यह सब हमारे विकास के लिए बुरा है। आज यह कहना शायद कुछ अटपटा लगे लेकिन मैं इसकी वकालत करना चाहूंगा और अगर मैं गलत भी हूं तो भी मुझे खुशी होगी।

यह बात विचारणीय है कि आज चालिस वर्ष तक वैज्ञानिक मानसिकता को

पनपने का अवसर देने के बाद भी हम कई तरह के रूढ़िवादी संस्कारों से ग्रस्त हैं । यह हमारे अन्दर आत्म-विश्वास की कमी के ही लक्षण हैं । हमारा इतिहास लम्बे समय तक रूढ़िवादी परम्पराओं पर ही टिका रहा है और अनेक लोगों के लिए यह संस्कार उनके जीवन का अभिन्न अंग बन गए हैं । फिर भी मैं उनमें से हूं जो रूढ़िवाद को सर्वव्यापी नहीं मानते । यह लोगों के साथ सरासर धोखा है। पहले की अपेक्षा आज मुझे ऐसे लोग ज्यादा मिलते हैं जो ज्योतिष में विश्वास रखते हैं । हजारों घटनाओं में से यदि एक भी बात ज्योतिष के पूर्वानुमान के अनुसार सही निकल गई तो उनको लगता है उनके विश्वास की पुष्टि हो गई।

यही हाल-चिकित्सा का है । नीम-हकीमों के कारण हजारों मरीज कष्ट झेलते हैं; खासतौर से जब वो स्टीराइड्स (Steroids) का दुरुपयोग करते हैं । फिर भी ऐसे उपचार करने वालों का कुछ नहीं बिगड़ता । उन्हें आर्थिक व राजनैतिक बल मिलता ही रहता है ।

बहुत पहले प्रो० सी.वी. रमन ने कहा था "खेद की बात है कि लोग सी.वी. रमन की बजाय बी.वी. रमन (जो ज्योतिष पर एक पत्रिका का संपादन करता है और विज्ञान का दुश्मन है) को अधिक प्राथमिकता देते हैं ।" इस शताब्दी के प्रारम्भ के एक महान गणितज्ञ डेविड गिलबर्ट ने ज्योतिष के बारे में कहा था, "यदि आप संसार के सर्वाधिक समझदार दस व्यक्तियों को इकट्ठा करके उनसे पूछें कि दुनिया में सबसे ज्यादा मूर्खतापूर्ण चीज़ क्या है तो वे ज्योतिष से अधिक कोई बेवकूफी न ढूंढ़ पायेंगे ।"

ज्योतिष से पूर्वानुमान लगाने की हमारी इच्छा से हमारे अंदर विश्वास की कमी और पश्चिम के मुकाबले पिछड़ेपन की झलक मिलती है । यह बात नहीं है कि यहां ऐसे प्रतिभाशाली युवा लोगों की कमी है जो विज्ञान में विश्वास रखते हैं तथा अंध-विश्वास और अन्याय से लड़ना चाहते हैं । परन्तु समाज की वर्तमान परिस्थितियां उन्हें प्रभावहीन बना देती हैं । रूढ़िवादी दबावों द्वारा लोगों को काबू में रखना इतिहास में कोई नयी बात नहीं है । लेकिन यह बात नयी है कि एक ऐसा बड़ा समाज बन गया है जो इस तरह की आवश्यकता से खुराक लेता है और साथ ही विज्ञान का पूरा लाभ भी उठाता है ।

विज्ञान विरोधी आंदोलनों का एक और पक्ष है युवाओं का योग्यता के अतिरिक्त अन्य आधारों पर वर्गीकरण, मुख्यत: वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्रों में। इस तरह की रुकावटें घटिया विज्ञान, घटिया इंजीनियरिंग और घटिया चिकित्सा का कारण बनती हैं । आखिर हम सब यह जानते हैं कि हाकी, क्रिकेट और

खेल-कूद में श्रेष्ठता के अतिरिक्त कोई और मापदंड अपनाना कितनी हास्यास्पद बात होगी, विशेष रूप से तब जबकि उन्हें अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में भाग लेना हो । विज्ञान और तकनीकी की टीमों में ऐसा क्यों होना चाहिए ? जैसी स्थिति आज है, देश में निम्न स्तरीय डॉक्टरों और इंजीनियरों की संख्या बहुत बड़ी है जबकि ऐसे प्रतिभावान विद्यार्थियों को ढूँढ़ना बहुत कठिन है जो मूल विज्ञान (Basic Sciences) में खोज करने की चुनौती को स्वीकार करें । प्रतिभावान से मेरा तात्पर्य उनसे है जो मौलिक और नये विचारों के द्वारा योगदान कर सकें । आज स्थिति यह है कि यदि किसी अच्छे व्यक्ति को व्यावसायिक विषय में आने का मौका मिलता है तो उसको लगता है कि विदेश जाने में ही उसका भला है ।

अच्छे विज्ञान, इंजीनियरिंग और चिकित्सा का ऐसे ढांचे के साथ तालमेल नहीं बैठता जिसका आधार ही योग्यता को हटाना हो । इससे केवल आन्तरिक और वाह्य ब्रेन-ड्रेन ही होता है और परिणामस्वरूप व्यवसायों में मध्य स्तरीय लोगों का चयन होता है जिससे फिर व्यवसाय को हानि होती है । यह सोच कि रूढ़िवादी तर्कों से योग्यता जैसे मूल मुद्दे को छोड़ा जा सकता है, भारत में विज्ञान के आधार को खत्म करने का एक निश्चित लक्षण है । इस तरह का दृष्टिकोण न केवल प्रतिभाशाली बच्चों के प्रति अन्याय है बल्कि विज्ञान, जो केवल अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता के आधार पर अपना औचित्य सिद्ध कर सकता है, का अनादर भी है। आगे बढ़ने का रास्ता केवल इन नारों से ही निकलता है, "मैं श्रेष्ठ हूं, मैं सर्वश्रेष्ठ बनना चाहता हूं और मैं केवल उनके साथ ही मुकाबला करूंगा जो सर्वश्रेष्ठ हैं ।" तब ही विज्ञान के ऐसे सच्चे विद्यार्थी उभर सकते हैं, जो मौलिक चीजें करें ।

यदि मैं विज्ञान में विद्यार्थियों की अरुचि के बारे में बात करूं तो यह हमारी अंक देने की विधि (marking system) के कारण है । जे.बी.एस. हालडेन, जो कि एक महान जीव विज्ञानी थे और जिन्होंने भारतीयता को अपनाया, का शायद यह कहना बिल्कुल ठीक है कि यहां के विश्वविद्यालयों में प्रथम श्रेणी एक आम बात बन गई है और इस बात पर भी जोर दिया जाता है कि केवल वे ही विद्यार्थी किसी काम के हैं जिनके अंक 95% से अधिक होते हैं । उनका अनुभव था कि केवल दूसरी श्रेणी पाने वाले विद्यार्थियों में मौलिकता दिखाई देती है । प्रथम श्रेणी देने वाली फैक्ट्रियां (universities) वास्तविक साइंस और तकनीक में योगदान नहीं देतीं ।

हमारी रूढ़िवादी सोच का एक और पहलू कृषि के ग्रामीण पक्ष को अत्यधिक महत्व देना है । यह पिछले कुछ दिनों में खास तौर से हुआ है । कृषि प्रगति के सबसे महत्वपूर्ण विषयों में से एक होने के साथ-साथ हमारी अर्थ-व्यवस्था और स्वतन्त्रता को कायम रखने में प्रमुख भूमिका निभाती है । कुछ इस तरह से सुना जाने लगा है कि यदि गरीब किसान जो वित्तीय सहायता पर निर्भर है और ज्यादातर अनपढ़ है, को बढ़ावा दिया जाए तो कृषि में सब ठीक हो जायेगा। इसका एक राजनैतिक मूल्य हो सकता है, परन्तु इससे असमान विकास होगा । हमें यह कहना होगा कि गरीब किसान को ऐसा बनाना होगा कि वह अपनी सामान्य समझ के द्वारा वैज्ञानिक मूल्यों के आधार पर अपनी फसलों को बढ़ा सकें और उसको संभाल सकें । हम अक्सर यह भूल जाते हैं कि मौलिक विज्ञान की मदद से ही 'हरित क्रांति' आ सकी थी और पिछड़ा हुआ किसान एक आर्थिक ताकत के रूप में उभर सका। आज उसका महत्व इतना हो गया है कि योजनाबद्ध बजट का लगभग आधा हिस्सा उसे मिल रहा है । इस बात पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती परन्तु यह अवश्य देखना होगा कि यह हुआ कैसे ? क्या होता, यदि खाद, कीटाणु नाशक दवाइयां (जिनका कि जरूरत से ज्यादा प्रयोग होता है), अच्छे बीज इत्यादि उपलब्ध न होते ?

मैं यह जोर देकर कहना चाहूंगा कि कृषि को आगे ले जाने के लिए किसानों को अतिरिक्त सहायता देने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि जरूरत इस बात की है कि उन्हें रसायनों और खादों के सही प्रयोग के बारे में तथा कृषि के मशीनीकरण के बारे में जानकारी मिले और वे आधुनिक विकास के बारे में जागरूक हों । मुझे कष्टों में रहते शहरी या ग्रामीण इन्सान में कोई अन्तर नहीं दिखायी देता । दोनों के दुःख एक से हैं । दोनों में आवश्यकता से अधिक अभाव या विकास से दुखदायी नतीजे निकल सकते हैं ।

पिछले कुछ वर्षों से जमीन के अभाव के कारण संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। घर का एक सदस्य यदि सेना में भर्ती हो जाता है तो उसका वापिस आना परिवार के सदस्यों को ज्यादा अच्छा नहीं लगता । इस तरह से सेवामुक्त सैनिकों के लिए कई समस्याएं खड़ी हो गई हैं । इन सैनिकों की समस्याओं को समझते हुए भी बदलती परिस्थितियों में छठे दशक के समाधान 21वीं शताब्दी में लागू नहीं हो सकते।

वैज्ञानिक तरीकों में गिरावट का जो एक अन्य पहलू सामने आता है वह है - निम्न स्तरीय जन - सुविधाएं । आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हमारे देश में जितनी ऊर्जा पैदा होती है उसका 30% हिस्सा या तो बर्बाद हो जाता है या उसका कोई हिसाब ही नहीं है । जब हम 21वीं सदी की बात करते हैं

तो हमें बिजली के वितरण और उसकी देखरेख के ढांचे के निम्न स्तर के बारे में सोचना होगा । इसके लिए काफी लम्बा रास्ता पार करना है ।

हमारा देश विकसित देशों के समान ही आधुनिकतम चीजें बना सकता है। उदाहरण के लिए हमने रियैक्टर बनाये हैं जिसकी देखभाल हम विदेशी रियैक्टरों से भी ज्यादा बेहतर ढंग से कर सकते हैं । हमने बहुत परिष्कृत (sophisticated) किस्म के प्रक्षेपास्त्र बनाए हैं । परन्तु बात जब पानी, बिजली, सड़कों, घरों, यातायात इत्यादि की आती है तो हमारी वैज्ञानिक समझ पता नहीं कहां लुप्त हो जाती है ?

आपको इन सब बातों के बारे में ध्यान से सोचना चाहिए, क्योंकि अब से लगभग 20 साल बाद जब आप अपने काम में चोटी तक पहुंचें तो आपके लिए बेहतर जन-सुविधाएं हों । ये समस्याएं कम क्षमता से काम करके हल नहीं होंगी - चाहे और भी नौकरियां उपलब्ध हो जायें । आपको अपने जीवन और सोच में वैज्ञानिक तर्कों को बढ़ाने के लिए जो भी सम्भव हो करना चाहिए । सरकार और ज्यादा अनुभवी लोग केवल अपने आप से कुछ नहीं कर सकते, पूरे देश को इस दिशा में सोचना पड़ेगा ।

युवा लोग हमेशा राजनीति में सबसे आगे रहे हैं तो अब संगठनात्मक और वैज्ञानिक विकास में वो योगदान क्यों न करें जिससे देश को आलस्य और अक्षमता से छुटकारा मिल सके । हमें अपने देश को उन रास्तों पर चलाना है, जिसका परिणाम हमें एक निश्चित समय में मिले । इसी प्रकार से हम देर से और देर तथा एक संकट से दूसरे संकट के घेरे से बाहर निकल सकते हैं ।

पारिभाषिक शब्दावली (150 शब्द)

वर्ग 'क' : व्यवसाय संबंधी शब्दावली (50 शब्द)

1. Advance = अग्रिम
2. Agent = अभिकर्ता
3. Agreement = अनुबंध
4. Assignment = समनुदेशन
5. Assured = बीमित
6. Balance of payments = भुगतान-शेष
7. Balance-Sheet = तुलनपत्र
8. Bearish = मंदी रुख
9. Book Credit = खाता-उधार
10. Boom = तेजी
11. Borowed note = जमानती रुक्का
12. Bull = तेजड़िया
13. Call Money = शीघ्रावधि द्रव्य
14. Coding = बीजांकन
15. Confiscation = अधिहरण
16. Consignment = परेषण
17. Contract = संविदा
18. Demurrage = विलम्ब शुल्क
19. Disbursement = संवितरण
20. Discount = बट्टा
21. Dividend = लाभांश
22. Endorsement = पृष्ठांकन
23. Exchange = विनिमय
24. Export = निर्यात
25. Follow-up = अनुवर्तन
26. Fringe benefits = अनुषंगी लाभ
27. Goodwill = सुनाम
28. Gurantee = प्रत्याभूति

29. Import = आयात
30. Indemnity Bond = क्षतिपूर्ति बंध-पत्र
31. Inflation = स्फीति
32. Input = निविष्टि
33. Instrument = प्रपत्र
34. Inventory = माल सूची
35. Investment = निवेश
36. Invoice = बीजक
37. Issue = निर्गम
38. Layout = विन्यास
39. Liability = देयता
40. Liquidation = परिसमापन
41. Margin = लाभ-सीमा
42. Mortgage = बंधक
43. Negotiability = पराक्राम्यता
44. Paid-up = चुकता
45. Promissory note = रुक्का
46. Registration = पंजीकरण
47. Risk = जोखिम
48. Surety = प्रतिभू
49. Under writing = जोखिम अंकन
50. Warranty = आश्वस्ति

वर्ग 'ख' : प्रशासन संबंधी शब्दावली (100 शब्द)

1. Abatement = अवसान
2. Abbreviation = संक्षेपण
3. Abinitio = आरंभ से
4. Abolition = उन्मूलन
5. Above par = अधिमूल्य
6. Acceptance = स्वीकृति
7. Accuracy = यथार्थता

8.	Accusation	=	अभियोग
9.	Acknowledgement	=	पावती
10.	Acting	=	कार्यवाहक
11.	Act of commission and omission	=	भूल-चूक
12.	Ad-hoc	=	तदर्थ
13.	Adjustment	=	समायोजन
14.	Adjournement	=	स्थगन
15.	Administration	=	प्रशासन
16.	Admissibility	=	स्वीकार्य
17.	Adverse	=	प्रतिकूल
18.	Advice-note	=	संज्ञापन-पत्र
19.	Affiliation	=	संबंधन
20.	Afforesaid	=	पूर्वोक्त
21.	Agenda	=	कार्यसूची
22.	Allotment	=	आवंटन
23.	Allowance	=	भत्ता
24.	Appendix	=	परिशिष्ट
25.	Appliance	=	उपकरण
26.	Approval	=	अनुमोदन
27.	Attestation	=	साक्ष्यांकन
28.	Ban	=	प्रतिबंध
29.	Bonafides	=	सद्भाव
30.	Bureaucracy	=	नौकरशाही
31.	Bye-law	=	उपविधि
32.	Cell	=	कक्ष
33.	Charge	=	प्रभार
34.	Circular	=	परिपत्र
35.	Clerical Error	=	लेखन-अशुद्धि
36.	Code	=	संहिता
37.	Compensation	=	क्षतिपूर्ति

38. Competency = सक्षमता
39. Compliance = अनुपालन
40. Confirmation = पुष्टि
41. Consent = सहमति
42. Deduction = कटौती
43. De fact = वस्तुत:
44. De Jure = विधित:
45. Deliberation = विचार-विमर्श
46. Diagram = आरेख
47. Dictation = श्रुतलेख
48. Directorate = निदेशालय
49. Directory = निर्देशिका
50. Discretion = विवेक
51. Disposal = निपटान
52. Dissent = असहमति
53. Distribution = वितरण
54. Duplicating = अनुलिपिकरण
55. Duration = अवधि
56. Efficiancy Bar = दक्षता रोक
57. Enclosure = अनुलग्नक
58. Enquiry = पूछताछ
59. Entry = प्रविष्टि
60. Equipment = उपस्कर
61. Errata = शुद्धि-पत्र
62. Estate = संपदा
63. Estimate = अनुमान
64. Ex-officio = पदेन
65. Extract = अनुमान उद्धरण
66. Facsimile = प्रतिकृति
67. File = मिसिल
68. Forwarding Letter = अग्रसरण-पत्र
69. Gazette = राजपत्र

70. History Sheet = इतिवृत्त
71. Honorarium = मानदेय
72. Ibid (Ibidem) = वही
73. Immigration = आवास
74. Incharge = प्रभारी
75. Index = अनुक्रमणी
76. Initials = आद्यक्षर
77. Interim = अंतरिम
78. Interval = अंतराल
79. Itinerary = यात्रा कार्यक्रम
80. Joining Report = कार्यारंभ प्रतिवेदन
81. Justification = औचित्य
82. Memorandum = ज्ञापन
83. Mint = टकसाल
84. Modus Operandi = कार्य-प्रणाली
85. Notification = अधिसूचना
86. Personnel = कार्मिक
87. Postponement = मुल्तवी
88. Priority = प्राथमिकता
89. Privilege = विशेपाधिकार
90. Proceedings = कार्यवाही
91. Recommendation = संस्तुति
92. Record = अभिलेख
93. Reservation = आरक्षण
94. Returning Officer = निर्वाचन अधिकारी
95. Secretary = सचिव
96. Seniority = वरिष्ठता
97. Stationery = लेखन-सामग्री
98. Verification = सत्यापन
99. Working results = कार्य परिणाम
100. Workshop = कार्य-गोष्ठी

बीती विभावरी जाग री !

जयशंकर प्रसाद

बीती विभावरी जाग री !
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी ।

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अन्चल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी ।

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली ।
आँखों में भरे विहाग री !

तोड़ती पत्थर

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

वह तोड़ती पत्थर ;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर-
वह तोड़ती पत्थर !
नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार ;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत-नयन, प्रिय-कर्म रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार ;
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार ।
चढ़ रही थी धूप ;
गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप,
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू
गर्द चिनगीं छा गई ;
प्रायः हुई दुपहर—
वह तोड़ती पत्थर ।
देखते देखा, मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्न-तार
देख कर कोई नहीं
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं ;
सजा सहज सितार
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार ।
एक क्षण के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
'मैं तोड़ती पत्थर' ।

सबेरे उठा तो धूप खिली थी

अज्ञेय

सबेरे उठा तो धूप खिल कर छा गयी थी
और एक चिड़िया अभी-अभी गा गयी थी ।
मैं ने धूप से कहा: मुझे थोड़ी गरमाई दोगी उधार–
चिड़िया से कहा: थोड़ी मिठास उधार दोगी ?
मैं ने घास की पत्ती से पूछा : तनिक हरियाली दोगी–
तिनके की नोक-भर ?
शंख पुष्पी से पूछा : उजास दोगी–किरण की ओक-भर ?
मैंने हवा से माँगा : थोड़ा खुलापन–बस एक प्रश्वास ;
लहर से : एक रोम की सिहरन-भर उल्लास ।
मैंने आकाश से माँगी
आँख की झपकी-भर असीमता–उधार ।
सब से उधार मांगा, सब ने दिया ।
यों मैं जिया और जीता हूँ
क्योंकि यही सब तो है जीवन–
गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला,
गन्धवाही मुक्त खुलापन, लोच, उल्लास, लहरिल प्रवाह,
और बोध भव्य निर्व्यास निस्सीम का :
ये सब उधार पाये हुए द्रव्य ।
रात के अकेले अन्धकार में
सपने से जागा जिस में
एक अनदेखे अरूप ने पुकार कर मुझ से पूछा था : क्यों जी,
तुम्हारे इस जीवन के
इतने विविध अनुभव हैं
इतने तुम धनी हो,

तो मुझे थोड़ा प्यार दोगे उधार, जिसे मैं
सौगुने सूद के साथ लौटाऊँगा–
और वह भी सौ-सौ बार गिन के
जब-जब आऊँगा ?
मैंने कहा : प्यार ? उधार ?
स्वर अचकचाया था, क्योंकि मेरे
अनुभव से परे था ऐसा व्यवहार ।

उस अनदेखे अरूप ने कहा : हाँ,
क्योंकि ये ही सब चीजें तो प्यार हैं–
यह अकेलापन, यह अकुलाहट, यह असमंजस, अचकचाहट, आर्त अनुभव,

यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय विरह व्यथा,
यह अन्धकार में जाग कर सहसा पहचानना कि
जो मेरा है वही ममेतर है–
यह सब तुम्हारे पास है
तो थोड़ा मुझे दे दो–उधार–इस एक बार–
मुझे जो चरम आवश्यकता है ।

उस ने यह कहा,
पर रात के घुप अँधेरे में
मैं सहमा हुआ चुप रहा ; अभी तक मौन हूँ :
अनदेखे अरूप को
उधार देते मैं डरता हूँ :
क्या जाने यह याचक कौन है ?

उनको प्रणाम !

नागार्जुन

जो नहीं हो सके पूर्ण-काम
मैं उनको करता हूँ प्रणाम ।

कुछ कुंठित औ कुछ लक्ष्य-भ्रष्ट
जिनके अभिमंत्रित तीर हुए ;
रण की समाप्ति के पहले ही
जो वीर रिक्त तूणीर हुए !
—उनको प्रणाम !

जो छोटी-सी नैया लेकर
उतरे करने को उदधि-पार
मन की मन में ही रही, स्वयं
हो गए उसी में निराकार !
—उनको प्रणाम !

जो उच्च शिखर की ओर बढ़े
रह-रह नव-नव उत्साह भरे ;
पर कुछ ने ले ली हिम-समाधि
कुछ असफल ही नीचे उतरे !
—उनको प्रणाम !

एकाकी और अकिंचन हो
जो भू-परिक्रमा को निकले ;
हो गए पंगु, प्रति-पद जिनके
इतने अदृष्ट के दाव चले !
—उनको प्रणाम !

कृत-कृत नहीं जो हो पाए ;
प्रत्युत फाँसी पर गए झूल
कुछ ही दिन बीते हैं, फिर भी
यह दुनिया जिनको गई भूल !
—उनको प्रणाम !

थी उग्र साधना, पर जिनका
जीवन नाटक दुःखांत हुआ ;
था जन्म-काल में सिंह लग्न
पर कुसमय ही देहांत हुआ !
—उनको प्रणाम !

दृढ़ व्रत औ दुर्दम साहस के
जो उदाहरण थे मूर्ति-मंत ;
पर निरवधि बंदी जीवन ने
जिनकी धुन का कर दिया अंत !
—उनको प्रणाम !

जिनकी सेवाएँ अतुलनीय
पर विज्ञापन से रहे दूर
प्रतिकूल परिस्थिति ने जिनके
कर दिए मनोरथ चूर-चूर !
—उनको प्रणाम !

टूटा हुआ पहिया

धर्मवीर भारती

मैं, रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत ।
क्या जाने कब, इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय ।

अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
बड़े-बड़े महारथी
अकेली-निहत्थी आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं, रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में
ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ ।

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ ।
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।

घरों में वापसी

धूमिल

मेरे घर में पाँच जोड़ी आँखें हैं
माँ की आँखें
पड़ाव से पहले ही
तीर्थ-यात्रा की बस के
दो पंचर पहिये हैं ।
पिता की आँखें–
लोहसाँय सी ठण्डी शलाखें हैं ।
बेटी की आँखें–मन्दिर में दीवट पर
जलते घी के
दो दीये हैं ।
पत्नी की आँखें, आँखें नहीं
हाथ हैं, जो मुझे थामे हुए हैं ।
वैसे हम स्वजन हैं,
करीब हैं
बीच की दीवार के दोनों ओर
क्योंकि हम पेशेवर गरीब हैं ।
रिश्ते हैं,
लेकिन खुलते नहीं हैं
और हम अपने खून में इतना भी लोहा
नहीं पाते
कि हम उससे एक ताली बनाते
और भाषा के भुन्नासी ताले को खोलते
रिश्तों को सोचते हुए
आपस में प्यार से बोलते
कहते कि ये पिता हैं
यह प्यारी माँ है,
यह मेरी बेटी है

पत्नी को थोड़ा अलग
करते-तू मेरी
हम बिस्तर नहीं—मेरी
हम सफर है
हम थोड़ा जोखिम उठाते
दीवार पर हाथ रखते और कहते—
यह मेरा घर है

तुम्हारे साथ रहकर

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे ऐसा महसूस हुआ है
कि दिशाएँ पास आ गयी हैं,
हर रास्ता छोटा हो गया है,
दुनिया सिमटकर
एक आँगन-सी बन गयी है
जो खचाखच भरा है,
कहीं भी एकान्त नहीं
न बाहर, न भीतर।

हर चीज़ का आकार घट गया है,
पेड़ इतने छोटे हो गये हैं
कि मैं उनके शीश पर हाथ रख
आशीष दे सकता हूँ,
आकाश छाती से टकराता है,
मैं जब चाहूँ बादलों में मुँह छिपा सकता हूँ।
तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे महसूस हुआ है
कि हर बात का एक मतलब होता है,
यहाँ तक कि घास के हिलने का भी,
हवा का खिड़की से आने का,
और धूप का दीवार पर
चढ़कर चले जाने का।
तुम्हारे साथ रहकर
अक्सर मुझे लगा है
कि हम असमर्थताओं से नहीं
सम्भावनाओं से घिरे हैं,

हर दीवार में द्वार बन सकता है
और हर द्वार से पूरा का पूरा
पहाड़ गुज़र सकता है ।
शक्ति अगर सीमित है
तो हर चीज़ अशक्त भी है,
भुजाएँ अगर छोटी हैं,
तो सागर भी सिमटा हुआ है,
सामर्थ्य केवल इच्छा का दूसरा नाम है,
जीवन और मृत्यु के बीच जो भूमि है
वह नियति की नहीं मेरी है ।

हो गई है पीर पर्वत-सी

दुष्यंत कुमार

हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए,
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए ।
आज यह दीवार, पर्दों की तरह हिलने लगी,
शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए ।
हर सड़क पर, हर गली में, हर नगर, हर गांव में,
हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए ।
सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं
मेरी कोशिश है कि यह सूरत बदलनी चाहिए ।

मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीनेमें सही,
हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए ।

पानी में घिरे हुए लोग

केदार नाथ सिंह

पानी में घिरे हुए लोग
प्रार्थना नहीं करते
वे पूरे विश्वास से देखते हैं पानी को
और एक दिन
बिना किसी सूचना के
खच्चर, बैल या भैंस की पीठ पर
घर-असबाब लादकर
चल देते हैं कहीं और
यह कितना अद्‌भुत है
कि बाढ़ चाहे जितनी भयानक हो
उन्हें पानी में
थोड़ी-सी जगह जरूर मिल जाती है
थोड़ी-सी धूप
थोड़ा-सा आसमान
फिर वे गाड़ देते हैं खम्भे
तान देते हैं बोरे
उलझा देते हैं मूँज की रस्सियाँ और टाट
पानी में घिरे हुए लोग
अपने साथ ले आते हैं पुआल की गन्ध
वे ले आते हैं आम की गुठलियाँ
खाली टिन
भुने हुए चने
वे ले आते हैं चिलम और आग
फिर बह जाते हैं उनके मवेशी
उनकी पूजा की घण्टी बह जाती है
बह जाती है महावीरजी की आदमक़द मूर्ति
घरों की कच्ची दीवारें
दीवारों पर बने हुए हाथी-घोड़े

फूल-पत्ते
पाट-पटोरे
सब बह जाते हैं
मगर पानी में घिरे हुए लोग
शिकायत नहीं करते
वे हर कीमत पर अपनी चिलम के छेद में
कहीं-न-कहीं बचा रखते हैं
थोड़ी-सी आग
फिर डूब जाता है सूरज
कहीं से आती हैं
पानी पर तैरती हुई
लोगों के बोलने की तेज आवाजें
कहीं से उठता है धुँआ
पेड़ों पर मँडराता हुआ
और पानी में घिरे हुए लोग
हो जाते हैं बेचैन
वे जला देते हैं
एक टुटही लालटेन
टाँग देते हैं किसी ऊँचे बाँस पर
ताकि उनके होने की खबर
पानी के पार तक पहुँचती रहे
फिर उस मद्धिम रोशनी में
पानी की आँखों में
आंखें डाले हुए
वे रात-भर खड़े रहते हैं
पानी के सामने
पानी की तरफ
पानी के खिलाफ़
सिर्फ उनके अन्दर
अरार की तरह
हर बार कुछ टूटता है
हर बार पानी में कुछ गिरता है
छपाक्....छपाक्.....

झूठ के बारे में एक कविता

राजेश जोशी

झूठ एक बाजे की तरह था
जरा सी फूंक मारो तो बहुत जोर से बजता था

वह बहुत चुस्त और फुर्तीला था
आसानी से पकड़ में नहीं आता था
वह कमाल का दिखनौटा था दिलचस्प और मजेदार भी
टमाटर की तरह लाल थे उसके गाल
वह कभी बूढ़ा नहीं लगता था

बनिस्वत सच से ज्यादा विश्वसनीय लगता था
और आमतौर पर ज्यादा काम आता था लोगों के
वह विनम्र था और आटे में नमक की तरह
रहना चाहता था

शासक जबकि उपयोग करना चाहते थे उसका
उल्टे अनुपात में और तानाशाह सोचते थे
कि उसे बार-बार दोहराने से
वह सच की तरह लग सकता है
यह बात एकदम गलत थी

वह गुलाम की तरह दबोचे रहता था सच को
हालाँकि सच की जो भी प्रतिष्ठा थी
उसी के कारण थी

उसमें अच्छी बात यह थी कि
अपने को छुपाता नहीं था
अपनी सारी चालाकी के बाद भी देर सवेर
पहचान में आ जाता था
यही बात उसमें सच से अलहदा थी ।

मुक्ति-मार्ग

प्रेमचंद

सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है। झींगुर अपने ऊख के खेतों को देखता, तो उस पर नशा-सा छा जाता। तीन बीघे ऊख थी। इसके 600/- रु० तो अनायास ही मिल जायेंगे। और, जो कहीं भगवान् ने डाँड़ी तेज कर दी, तो फिर क्या पूछना! दोनों बैल बूड्ढे हो गए। अबकी नई गोई बटेसर के मेले से ले आएगा। कहीं दो बीघे खेत और मिल गए, तो लिखा लेगा। रुपयों की क्या चिन्ता है। बनिये अभी से उसकी खुशामद करने लगे थे। ऐसा कोई न था, जिससे उसने गाँव में लड़ाई न की हो। वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही न था।

एक दिन सन्ध्या के समय वह अपने बेटे को गोद में लिये मटर की फलियाँ तोड़ रहा था। इतने में उसे भेड़ों का झुण्ड अपनी तरफ आता दिखाई दिया वह अपने मन में कहने लगा– इधरसे भेड़ों के निकलने का रास्ता न था। क्या खेत की मेड़ पर से भेड़ों का झुण्ड नहीं जा सकता था? भेड़ों को इधर से लाने की क्या जरूरत? ये खेत को कुचलेंगी, चरेंगी। इसका डाँड़ कौन देगा? मालूम होता है, बुद्धू गड़ेरिया है। बचा को घमंड हो गया है, तभी तो खेतों के बीच से भेड़ें लिये चला आता है। जरा इसकी ढिठाई तो देखो! देख रहा है कि मैं खड़ा हूँ, फिर भी भेड़ों को लौटाता नहीं। कौन मेरे साथ कभी रिआयत की है कि मैं इसकी मुरौवत करूँ? अभी एक भेड़ा मोल माँगूँ, तो पाँच ही रुपये सुनावेगा। सारी दुनिया में चार रुपये के कम्बल बिकते हैं, पर यह पाँच रुपये से नीचे की बात नहीं करता।

इतने में भेड़ें खेत के पास आ गईं। झींगुर ने ललकारकर कहा–अरे, ये भेड़ कहाँ लिये आते हो?

बुद्धू नम्र भाव से बोला–महतो, डाँड़ पर से निकल जायँगी। घूमकर जाऊँगा, तो कोस-भर का चक्कर पड़ेगा।

झींगुर–तो तुम्हारा चक्कर बचाने के लिए मैं अपना खेत क्यों कुचलाऊँ? डाँड़ ही पर से ले जाना है, तो और खेतों के डाँड़ से क्यों नहीं ले गए? क्या मुझे कोई चुहड़-चमार समझ लिया है या धन का घमण्ड हो गया है? लौटाओ इनको!

बुद्धू– महतो, आज निकल जाने दो। फिर कभी इधर से आऊँ, तो जो सजा चाहे देना।

झींगुर–कह दिया कि लौटाओ इन्हें! अगर एक भेड़ भी मेड़ पर आयी, तो समझ लो, तुम्हारी खैर नहीं।

बुद्धू–महतो, अगर तुम्हारी एक बेल भी किसी भेड़ के पैरों-तले आ जाय, तो मुझे बैठाकर सौ गालियाँ दे ।

बुद्धू बातें तो बड़ी नम्रता से कर रहा था, किन्तु लौटने में अपनी हेठी समझता था। उसने मन में सोचा, इसी तरह जरा-जरा-सी धमकियों पर भेड़ों को लौटाने लगा, तो फिर मैं चरा चुका । आज लौट जाऊँ, तो कल को कहीं निकलने का रास्ता ही न मिलेगा। सभी रोब जमाने लगेंगे।

बुद्धू भी पोढ़ा अदमी था । 12 कोड़ी भेड़ें थीं। उन्हें खेतों में बिठाने के लिए फी रात आठ आने कोड़ी मजदूरी मिलती थी, इसके उपरान्त दूध बेचता था; ऊन के कम्बल बनाता था। सोचने लगा–इतने गरम हो रहे हैं, मेरा कर ही क्या लेंगे? कुछ इनका दबैल तो हूँ नहीं। भेड़ों ने जो हरी-हरी पत्तियाँ देखीं, तो अधीर हो गईं। खेत में घुस पड़ीं। बुद्धू उन्हें डंडों से मार-मारकर खेत के किनारे से हटाता था और वे इधर-उधर से निकलकर खेत में जा पड़ती थीं ।

झींगुर ने आग होकर कहा–तुम मुझसे हेकड़ी जताने चले हो, तुम्हारी सारी हेकड़ी निकाल दूँगा ।

बुद्धू–तुम्हें देखकर चौंकती हैं । तुम हट जाओ, तो मैं सबको निकाल ले जाऊँ ।

झींगुर ने लड़के को तो गोद से उतार दिया और अपना डंडा सँभालकर भेड़ों पर पिल पड़ा । धोबी भी इतनी निर्दयता से अपने गधे को न पीटता होगा । किसी भेड़ की ठाँग टूटी, किसी की कमर टूटी। सबने बें-बें का शोर मचाना शुरू किया। बुद्धू चुपचाप खड़ा अपनी सेना का विध्वंस अपनी आँखों से देखता रहा । वह न भेड़ों को हाँकता था, न झींगुर से कुछ कहता था, बस खड़ा तमाशा देखता रहा। दो मिनट में झींगुर ने इस सेना को अपने अमानुषिक पराक्रम से मार भगाया। मेष-दल का संहार करके विजय-गर्व से बोला–अब सीधे चले जाओ! फिर इधर से आने का नाम न लेना।

बुद्धू ने आहत भेड़ों की ओर देखते हुए कहा–झींगुर, तुमने यह अच्छा काम नहीं

किया। पछताओगे।

2

केले को काटना भी इतना आसान नहीं, जितना किसान से बदला लेना। उसकी सारी कमाई खेतों में रहती है या खलिहानों में । कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं अनाज घर में आता है । और जो कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी सन्धि कर ली, तो बेचारा किसान कहीं का नहीं रहता ।

झींगुर ने घर आकर दूसरों से इस संग्राम का वृत्तान्त कहा, तो लोग समझाने लगे– झींगुर तुमने बड़ा अनर्थ किया। जानकर अनजान बनते हो। बुद्धू को जानते नहीं, कितना झगड़ालू आदमी है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। जाकर उसे मना लो, नहीं तो तुम्हारे साथ सारे गाँव पर आफत आ जायगी। झींगुर की समझ में बात आई। पछताने लगा कि मैंने कहाँ-से-कहाँ उसे रोका। अगर भेड़ें थोड़ा-बहुत चर ही जातीं, तो कौन मैं उजड़ा जाता था। वास्तव में हम किसानों का कल्याण दबे रहने में ही है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता। जी तो बुद्धू के घर जाने को न चाहता था, किन्तु दूसरों के आग्रह से मजबूर होकर चला।

अगहन का महीना था, कुहरा पड़ रहा था। चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। गाँव से बाहर निकला ही था कि सहसा अपने ऊख के खेत की ओर अग्नि की ज्वाला देखकर चौंक पड़ा। छाती धड़कने लगी। खेत में आग लगी हुई थी। बेतहाशा दौड़ा। मनाता जाता था कि मेरे खेत में न हो। पर ज्यों-ज्यों समीप पहुँचता था, यह आशामय भ्रम शान्त होता जाता था। वह अनर्थ हो ही गया, जिसके निवारण के लिए वह घर से चला था। हत्यारे ने आग लगा ही दी, और मेरे पीछे सारे गाँव को चौपट किया। उसे ऐसा जान पड़ता था कि वह खेत आज बहुत समीप आ गया है, मानो बीच के परती खेतों का अस्तित्व ही नहीं रहा। अन्त में जब खेत पर पहुँचा, तो आग प्रचंड रूप धारण कर चुकी थी।

झींगुर ने 'हाय-हाय' मचाना शुरू किया। गाँव के लोग दौड़ पड़े और खेतों से अरहर के पौधे उखाड़कर आग को पीटने लगे। अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर-मरकर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से, रणोन्मत्त हो कर, शस्त्र-प्रवाह करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिये, अग्निराशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल-बाल बचकर, निकल आता था। अन्त में मानव-दल की विजय हुई; किन्तु ऐसी विजय, जिस पर

हार भी हँसती। गाँव-भर की ऊख जलकर भस्म हो गई, और ऊख के साथ सारी अभिलाषाएँ भी भस्म हो गईं।

3

आग किसने लगायी, यह खुला हुआ भेद था; पर किसी को कहने का साहस न था। कोई सबूत नहीं। प्रमाणहीन तर्क का मूल्य ही क्या! झींगुर को घर से निकलना मुश्किल हो गया। जिधर जाता, ताने सुनने पड़ते । लोग प्रत्यक्ष कहते थे—यह आग तुमने लगवायी। तुम्हीं ने हमारा सर्वनाश किया । तुम्हीं मारे घमंड के धरती पर पैर न रखते थे। आपके-आप गये, अपने साथ गाँव-भर को डुबो दिया। बुद्धू को न छेड़ते तो आज क्यों यह दिन देखना पड़ता ?

झींगुर को अपनी बरबादी का इतना दुःख न था, जितना इन जली-कटी बातों का। दिन-भर घर में बैठा रहता। पूस का महीना आया। जहाँ सारी रात कोल्हू चला करते थे, गुड़ की सुगन्ध उड़ती रहती थी, भट्ठियाँ जलती रहती थीं और लोग भट्ठियों के सामने बैठे हुक्का पिया करते थे, वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था । ठंड के मारे लोग साँझ ही से किवाड़ बन्द करके पड़ रहते और झींगुर को कोसते। माघ और भी कष्टदायक था।

ऊख केवल धनदाता ही नहीं, किसानों का जीवनदाता भी है । उसी के सहारे किसानों का जाड़ा कटता है । गरम रस पीते हैं, ऊख की पत्तियाँ तापते हैं, उसके अगोड़े पशुओं को खिलाते हैं । गाँव के सारे कुत्ते जो रात को भट्ठियों की राख में सोया करते थे, ठण्ड से मर गए । कितने ही जानवर चारे के अभाव से चल बसे । शीत का प्रकोप हुआ और सारा गाँव खाँसी-बुखार में ग्रस्त हो गया। और यह सारी विपत्ति झींगुर की करनी थी—अभागे, हत्यारे झींगुर की !

झींगुर ने सोचते-सोचते निश्चय किया कि बुद्धू की दशा भी अपनी ही सी बनाऊँगा। उसके कारण मेरा सर्वनाश हो गया और वह चैन की बंशी बजा रहा है ! मैं भी उसका सर्वनाश करूँगा ।

जिस दिन इस घातक कलह का बीजारोपण हुआ, उसी दिन से बुद्धू ने इधर आना छोड़ दिया था । झींगुर ने उससे रब्त-जब्त बढ़ाना शुरू किया । वह बुद्धू को दिखाना चाहता था कि तुम्हारे ऊपर मुझे बिलकुल सन्देह नहीं है। एक दिन कम्बल लेने के बहाने गया, फिर दूध लेने के बहाने गया। बुद्धू उसका खूब आदर-सत्कार करता । चिलम तो आदमी दुश्मन को भी पिला देता है, वह उसे बिना दूध और शरबत पिलाए न आने देता ।

झींगुर आजकल एक सन लपेटनेवाली कल में मजदूरी करने जाया करता था। बहुधा कई-कई दिनों की मजदूरी इकट्ठी मिलती थी। बुद्धू ही की तत्परता से झींगुर का रोजाना खर्च चलता था। अतएव झींगुर ने खूब रब्त-जब्त बढ़ा लिया। एक दिन बुद्धू ने पूछा—क्यों झींगुर, अगर अपनी ऊख जलानेवाले को पा जाओ, तो क्या करो? सच कहना।

झींगुर ने गम्भीर भाव से कहा—मैं उससे कहूँ, भैया, तुमने जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। मेरा घमंड तोड़ दिया; मुझे आदमी बना दिया।

बुद्धू—मैं जो तुम्हारी जगह होता, तो बिना उसका घर जलाए न मानता।

झींगुर—चार दिन की जिन्दगानी में बैर-विरोध बढ़ाने से क्या फायदा? मैं तो बरबाद हुआ ही, अब उसे बरबाद करके क्या पाऊँगा?

बुद्धू—बस, यही आदमी का धर्म है। पर भाई क्रोध के बस में होकर बुद्धि उलटी हो जाती है।

4

फागुन का महीना था। किसान ऊख बोने के लिए खेतों को तैयार कर रहे थे। बुद्धू का बाजार गर्म था। भेड़ों की लूट मची हुई थी। दो-चार आदमी नित्य द्वार पर खड़े खुशामदें किया करते। बुद्धू किसी से सीधे मुँह बात न करता। भेड़ रखने की फीस दूनी कर दी थी। अगर कोई एतराज करता तो बेलाग कहता—तो भैया, भेड़ें तुम्हारे गले तो नहीं लगाता हूँ। जी न चाहे, मत रखो। लेकिन मैंने जो कह दिया है, उससे एक कौड़ी भी कम नहीं हो सकती। गरज थी, लोग इस रूखाई पर भी उसे घेरे ही रहते थे, मानो पंडे किसी यात्री के पीछे पड़े हों।

लक्ष्मी का आकार तो बहुत बड़ा नहीं, और वह भी समयानुसार छोटा-बड़ा होता रहता है। यहाँ तक कि कभी वह अपना विराट आकार समेटकर उसे कागज के चन्द अक्षरों में छिपा लेती हैं। कभी-कभी तो मनुष्य की जिह्वा पर जा बैठती हैं, आकार का लोप हो जाता है। किन्तु उनके रहने को बहुत स्थान की जरूरत होती है। वह आयीं, और घर बढ़ने लगा। छोटे घर में उनसे नहीं रहा जाता। बुद्धू का घर भी बढ़ने लगा। द्वार पर बरामदा डाला गया, दो की जगह छः कोठरियाँ बनवाई गई। यों कहिए कि मकान नए सिरे से बनने लगा। किसी किसान से लकड़ी माँगी, किसी से खपरों का आँवा लगाने के लिए उपले, किसी से बाँस और किसी से सरकंडे। दीवार की उठवायी देनी पड़ी। वह भी नकद नहीं, भेड़ों के बच्चों के रूप में। लक्ष्मी का यह प्रताप है। सारा काम बेगार में हो गया। मुफ्त में अच्छा-

खासा घर तैयार हो गया । गृह प्रवेश के उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं ।

इधर झींगुर दिन-भर मजदूरी करता, तो कहीं आधा पेट अन्न मिलता। बुद्धू के घर कंचन बरस रहा था । झींगुर जलता था, तो क्या बुरा करता था ? यह अन्याय किससे सहा जायेगा ?

एक दिन वह टहलता हुआ चमारों के टोले की तरफ चला गया । हरिहर को पुकारा । हरिहर ने आकर 'राम-राम' की और चिलम भरी। दोनों पीने लगे । यह चमारों का मुखिया बड़ा दुष्ट आदमी था। सब किसान इससे थर थर काँपते थे ।

झींगुर ने चिलम पीते-पीते कहा– आजकल फाग-वाग नहीं होता क्या? सुनाई नहीं देता ।

हरिहर–फाग क्या हो, पेट के धन्धे से छुट्टी ही नहीं मिलती। कहो, तुम्हारी आजकल कैसी निभती है ?

झींगुर– क्या निभती है ! नकटा जिया बुरे हवाल ! दिन-भर कल में मजदूरी करते हैं, तो चूल्हा जलता है । चाँदी तो आजकल बुद्धू की है । रखने को ठौर नहीं मिलता। नया घर बना, भेड़ें और ली हैं! अब गृह-परवेस की धूम है। सातों गाँवों में सुपारी जायेगी ।

हरिहर– लच्छिमी मैया आती हैं, तो आदमी की आँखों में सील आ जाता है । पर उसको देखो, धरती पर पैर नहीं रखता । बोलता है, तो ऐंठ ही कर बोलता है?

झींगुर–क्यों न ऐंठे, इस गाँव में कौन है उसकी टक्कर का ! पर यार, यह अनीति तो नहीं देखी जाती। भगवान् दे, तो सिर झुकाकर चलना चाहिए । यह नहीं कि अपने बराबर किसी को समझे ही नहीं । उसकी डींग सुनता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। कल का बानी आज का सेठ । चला है हमीं से अकड़ने । अभी लँगोटी लगाए खेतों में कौए हँकाया करता था, आज उसका आसमान में दिया जलता है।

हरिरह–कहो, तो कुछ उतजोग करूँ?

झींगुर–क्या करोगे! इसी डर से तो वह गाय-भैंस नहीं पालता।

हरिहर–भेड़ें तो हैं?

झींगुर–क्या, बगला मारे पखना हाथ।

हरिहर–फिर तुम्हीं सोचो।

झींगुर–ऐसी जुगुत निकालो कि फिर पनपने न पावे।

इसके बाद फुस-फुस करके बातें होने लगीं । यह एक रहस्य है कि भलाइयों में जितना द्वेष होता है, बुराइयों में उतना ही प्रेम । विद्वान् विद्वान् को देखकर, साधु साधु को देखकर और कवि कवि को देखकर जलता है । एक दूसरे की सूरत नहीं देखना-चाहता। पर जुआरी जुआरी को देखकर, शराबी शराबी को देखकर, चोर चोर को देखकर सहानुभूति दिखाता है, सहायता करता है । एक पंडितजी अगर अँधेरेमें ठोकर खाकर गिर पड़ें, तो दूसरे पंडितजी उन्हें उठाने के बदले दो ठोकरें और लगाएँगे कि वह फिर उठ ही न सकें । पर एक चोर पर आफत आयी देख, दूसरा चोर उसकी मदद करता है। बुराई से सब घृणा करते हैं, इसलिए बुरों में परस्पर प्रेम होता है । भलाई की सारा संसार प्रशंसा करता है, इसीलिए भलों में विरोध होता है । चोर को मार कर चोर क्या पाएगा ? घृणा। विद्वान् का अपमान करके विद्वान् क्या पाएगा ? यश !

झींगुर और हरिहर ने सलाह कर ली । षड्यंत्र रचने की विधि सोची गई । उसका स्वरूप, समय और क्रम ठीक किया गया । झींगुर चला, तो अकड़ा जाता था । मार लिया दुश्मन को, अब कहाँ जाता है !

दूसरे दिन झींगुर काम पर जाने लगा, तो पहले बुद्धू के घर पहुँचा । बुद्धू ने पूछा—क्यों, आज नहीं गये क्या ?

झींगुर—जा तो रहा हूँ । तुमसे यही कहने आया था कि मेरी बछिया को अपनी भेड़ों के साथ क्यों नहीं चरा दिया करते। बेचारी खूंटी पर बँधी-बँधी मरी जाती है । न घास, न चारा, क्या खिलाएँ ?

बुद्धू—भैया, मैं गाय-भैंस नहीं रखता । चमारों को जानते हो, एक ही हत्यारे होते हैं । इसी हरिहर ने मेरी दो गउएँ मार डालीं । न जाने क्या खिला देता है । तब से कान पकड़े कि अब गाय-भैंस न पालूँगा । लेकिन तुम्हारी एक ही बछिया है, उसका कोई क्या करेगा? जब चाहो, पहुँचा दो ।

यह कहकर बुद्धू अपने गृहोत्सव का सामान उसे दिखाने लगा । घी, शक्कर, मैदा, तरकारी सब मँगा रखा था । केवल सत्यनारायण की कथा की देर थी । झींगुर की आँखें खुल गई । ऐसी तैयारी न उसने स्वयं कभी की थी और न किसी को करते देखी थी । मजदूरी करके घर लौटा, तो सबसे पहला काम जो उसने किया, वह अपनी बछिया को बुद्धू के घर पहुँचाना था । उसी रात को बुद्धू के यहाँ सत्यनारायण की कथा हुई! ब्रह्म भोज भी किया गया। सारी रात विप्रों का आगत-स्वागत करते गुजरी। भेड़ों के झुंड में जाने का अवकाश ही न मिला। प्रातःकालभोजन

करके उठा ही था (क्योंकि रात का भोजन सबेरे मिला) कि एक आदमी ने आकर खबर दी—बुद्धू, तुम यहाँ बैठे हो, उधर भेड़ों में बछिया मरी पड़ी है! भले आदमी, उसकी पगहिया भी नहीं खोली थी!

बुद्धू ने सुना, और मानो ठोकर लग गई। झींगुर भी भोजन करके वहीं बैठा था।

बोला—हाय हाय, मेरी बछिया! चलो, जरा देखूँ तो। मैंने तो पगहिया नहीं लगायी थी। उसे भेड़ों में पहुँचाकर अपने घर चला गया। तुमने यह पगहिया कब लगा दी ?

बुद्धू—भगवान् जाने, जो मैंने उसकी पगहिया देखी भी हो? मैं तो तब से भेड़ों में गया ही नहीं।

झींगुर—जाते न, तो पगहिया कौन लगा देता? गये होगे, याद न आती होगी।

एक ब्राह्मन—मरी तो भेड़ों में ही न ? दुनिया तो यही कहेगी कि बुद्धू की असावधानी से उसकी मृत्यु हुई, पगहिया किसी की हो।

हरिहर—मैंने कल साँझ को इन्हें भेड़ों में बछिया को बाँधते देखा था।

बुद्धू—मुझे ?

हरिहर—तुम नहीं लाठी कन्धे पर रखे बछिया को बाँध रहे थे ?

बुद्धू—बड़ा सच्चा है तू ! तूने मुझे बछिया को बाँधते देखा था ?

हरिहर—तो मुझ पर काहे बिगड़ते हो भाई ? तुमने नहीं बाँधी, नहीं सही।

ब्राह्मन—इसका निश्चय करना होगा। गोहत्या का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। कुछ हँसी-ठट्टा है !

झींगुर—महाराज, कुछ जान-बूझकर तो बाँधी नहीं।

ब्राह्मन—इससे क्या होता है ? हत्या इसी तरह लगती है; कोई गऊ को मारने नहीं जाता।

झींगुर—हाँ, गउओं को खोलना-बाँधना है तो जोखिम का काम।

ब्राह्मन—शास्त्रों ने उसे महापाप कहा है। गऊ की हत्या ब्राह्मण की हत्या से कम नहीं।

झींगुर—हाँ, फिर गऊ तो ठहरी ही। इसी से न इनका मान होता है। जो

माता, सो गऊ! लेकिन महाराज, चुक हो गई। कुछ ऐसा कीजिए कि थोड़े में बेचारा निपट जाय ।

बुद्धू खड़ा सुन रहा था कि अनायास मेरे सिर हत्या मढ़ी जा रही है। झींगुर की कुटनीति भी समझ रहा था । मैं लाख कहूँ, मैंने बछिया नहीं बाँधी, मानेगा कौन ? लोग यही कहेंगे कि प्रायश्चित से बचने के लिए ऐसा कह रहा है ।

ब्राह्मण देवता का भी उसका प्रायश्चित करानें में कल्याण होता था । भला, ऐसे अवसर पर कब चुकने वाले-थे! फल यह हुआ कि बुद्धू को हत्या लग गई। ब्राह्मण भी उससे जले हुए थे। कसर निकालने की बात मिली। तीन मास का भिक्षा-दंड दिया, फिर सात तीर्थस्थानों की यात्रा; उस पर 500 विप्रों का भोजन और 5 गउओं का दान । बुद्धू ने सुना, तो बधिया बैठ गई । रोने लगा, तो दंड घटाकर दो मास कर दिया । इसके सिवा कोई रियायत न हो सकी । न कहीं अपील, न कहीं फरियाद! बेचारे को यह दंड स्वीकार करना पड़ा।

बुद्धू ने भेड़ें ईश्वर को सौंपी । लड़के छोटे थे । स्त्री अकेली क्या-क्या करती ? गरीब जाकर द्वारों पर खड़ा होता और मुँह छिपाए हुए कहता—गाय की बछी दिया बनवास । भिक्षा तो मिल जाती, किन्तु भिक्षा के साथ दो-चार कठोर अपमानजनक शब्द भी सुनने पड़ते । दिन को ज़ो कुछ पाता, वही शाम को किसी पेड़ के नीचे बनाकर खा लेता और वहीं पड़ रहता । कष्ट की तो उसे परवा न थी, भेड़ों के साथ दिन-भर चलता ही था, पेड़ के नीचे सोता ही था, भोजन भी इससे कुछ ही अच्छा मिलता था, पर लज्जा थी भिक्षा माँगने की । विशेष करके जब कोई कर्कशा यह व्यंग्य कर देती थी, कि रोटी कमाने का अच्छा ढंग निकाला है, तो उसे हार्दिक वेदना होती थी । पर करे क्या ?

दो महीने के बाद वह घर लौटा। बाल बढ़े हुए थे । दुर्बल इतना, मानो 60 वर्ष का बूढ़ा हो। तीर्थयात्रा के लिए रुपयों का प्रबन्ध करना था, गड़ेरियों को कौन महाजन कर्ज दे! भेड़ों का भरोसा क्या ? कभी-कभी रोग फैलता है, तो रात-भर में दल-का-दल साफ हो जाता है। उस पर जेठ का महीना, जब भेड़ों से कोई आमदनी होने की आशा नहीं। एक तेली राजी भी हुआ, तो दो आने रुपया ब्याज पर। आठ महीने में ब्याज मूल के बराबर हो जायेगा यहाँ कर्ज लेने की हिम्मत न पड़ी । इधर दो महीने में कितनी ही भेड़ें चोरी चली गई थी। लड़के चराने ले जाते थे । दूसरे गाँव वाले चुपके से एक-दो भेड़ें किसी खेत या घर में छिपा देते और पीछे मारकर खा जाते। लड़के बेचारे एक तो पकड़ न सकते, और जो देख

भी लेते, तो लड़ें क्योंकर। सारा गाँव एक हो जाता था । एक महीने में तो भेड़ें आधी भी न रहेंगी। बड़ी विकट समस्या थी। विवश होकर बुद्धू ने एक बूचड़ को बुलाया, और सब भेड़ें उसके हाथ बेच डालीं। 500 रु० हाथ लगे । उसमें से 200 रु० लेकर तीर्थयात्रा करने गया । शेष रुपये ब्रह्म भोज आदि के लिए छोड़ गया।

बुद्धू के जाने पर उसके घर दो बार सेंध लगी । पर यह कुशल हुई कि जगहग हो जाने के कारण रुपये बच गए ।

5

सावन का महीना था । चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। झींगुर के बैल न थे, खेत बटाई पर दे दिये थे । बुद्धू प्रायश्चित से निवृत्त हो गया था और उसके साथ ही माया के फन्दे से भी। न झींगुर के पास कुछ था, न बुद्धू के पास, कौन किससे जलता और किसलिए जलता ?

सन की कल बन्द हो जाने के कारण झींगुर अब बेलदारी का काम करता था । शहर में एक विशाल धर्मशाला बन रही थी। हजारों मजदूर काम करते थे । झींगुर भी उन्हीं में था। सातवें दिन मजदूरी के पैसे लेकर घर आता था और रात-भर रहकर सवेरे फिर चला जाता था ।

बुद्धू भी मजदूरी की टोह में यहीं पहुँचा। जमादार ने देखा दुर्बल आदमी है, कठिन काम तो इससे हो न सकेगा, कारीगरों को गारा देने के लिए रख लिया । बुद्धू सिर पर तसला रखे गारा लेने गया, तो झींगुर को देखा। 'राम-राम' हुई, झींगुर ने गारा भर दिया, बुद्धू उठा लाया । दिन-भर दोनों चुपचाप अपना-अपना काम करते रहे ।

सन्ध्या समय झींगुर ने पूछा—कुछ बनाओगे न ?

बुद्धू—नहीं तो खाऊँगा क्या ?

झींगुर—मैं तो एक जून चबेन कर लेता हूँ। इस जून सतू पर काट देता हूँ कौन झंझट करे ?

बुद्धू—इधर-उधर लकड़ियाँ पड़ी हुई हैं, बटोर लाओ। आटा मैं घर से लेता आया हूँ। घर ही पिसवा लिया था। यहाँ तो बड़ा महंगा मिलता है । इसी पत्थर की चट्टान पर आटा गूँध लेता हूँ। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिए तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा ।

झींगुर—तवा भी नहीं है ?

बुद्धू–तवे बहुत हैं। यही गारे का तसला माँज लेता हूँ ।

आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनायीं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खायीं। फिर चिलम भरी गई। दोनों आदमी पत्थर की सिलों पर लेटे और चिलम पीने लगे ।

बुद्धू ने कहा–तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगायी थी ।

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा–जानता हूँ ।

थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला–बछिया मैंने ही बांधी थी, और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था ।

बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा–जानता हूँ ।

फिर दोनों सो गए ।

अमृतसर आ गया है.....

भीष्म साहनी

गाड़ी के डिब्बे में बहुत मुसाफिर नहीं थे। मेरे सामनेवाली सीट पर बैठे सरदारजी देर से मुझे लाम के किस्से सुनाते रहे थे। वह लाम के दिनों में बर्मा की लड़ाई में भाग ले चुके थे और बात-बात पर खी-खी करके हंसते और गोरे फौजियों की खिल्ली उड़ाते रहे थे। डिब्बे में तीन पठान व्यापारी भी थे, उनमें से एक हरे रंग की पोशाक पहने ऊपरवाली बर्थ पर लेटा हुआ था। वह आदमी बड़ा हंसमुख था और बड़ी देर से मेरे साथवाली सीट पर बैठे एक दुबले-से बाबू के साथ उसका मजाक चल रहा था। वह दुबला बाबू पेशावर का रहनेवाला जान पड़ता था, क्योंकि किसी-किसी वक्त वे आपस में पश्तो में बातें करने लगते थे। मेरे सामने दायीं ओर कोने में, एक बुढ़िया मुँह-सिर ढांपे बैठी थी और देर से माला जप रही थी। यही कुछ लोग रहे होगें। सम्भव है, दो-एक और मुसाफिर भी रहे हों पर वे स्पष्टतः मुझे याद नहीं।

गाड़ी धीमी रफ्तार से चली जा रही थी, और गाड़ी में बैठे मुसाफिर बतिया रहे थे और बाहर गेहूँ के खेतों में हल्की-हल्की लहरियाँ उठ रही थीं, और मैं मन-ही-मन बड़ा खुश था, क्योंकि मैं दिल्ली में होनेवाला स्वतन्त्रता-दिवस समारोह देखने जा रहा था।

उन दिनों के बारे में सोचता हूँ, तो लगता है, हम किसी झुटपुटे में जी रहे थे। शायद समय बीत जाने पर अतीत का सारा व्यापार ही झुटपुटे में बीता जान पड़ता है। ज्यों-ज्यों भविष्य के पट खुलते जाते हैं, यह झुटपुटा और भी गहराता चला जाता है।

उन्हीं दिनों पाकिस्तान के बनाये जाने का ऐलान किया गया था और लोग तरह-तरह के अनुमान लगाने लगे थे कि भविष्य में जीवन की रूपरेखा कैसी होग। पर किसी की भी कल्पना बहुत दूर तक नहीं जा पाती थी। मेरे सामने बैठे सरदारजी बार-बार मुझसे पुछ रहे थे कि पाकिस्तान बन जाने पर जिन्ना साहिब बम्बई में ही रहेंगे या पाकिस्तान में जाकर बस जायेंगे, और मेरा हर बार यही जवाब होता–बम्बई क्यों छोड़ेंगे, पाकिस्तान में आते-जाते रहेंगे, बम्बई छोड़ देने में क्या तुक है। लाहौर और गुरदासपुर के बारे में भी अनुमान लगाये जा रहे थे कि कौन सा शहर किस ओर जायेगा। मिल बैठने के ढंग में, गप-शप में,

हँसी-मजाक में कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। कुछ लोग अपने घर छोड़कर जा रहे थे जबकि अन्य लोग उनका मजाक उड़ा रहे थे । कोई नहीं जानता था कि कौन-सा कदम ठीक होगा और कौन-सा गलत ! एक ओर पाकिस्तान बन जाने का जोश था तो दूसरी ओर हिन्दुस्तान के आजाद हो जाने का जोश । जगह-जगह दंगे भी हो रहे थे, और योम-ए-आजादी की तैयारियाँ भी चल रही थी। इस पृष्ठभूमि में लगता, देश आजाद हो जाने पर दंगे अपने-आप बन्द हो जायेंगे। वातावरण के इस झुटमुटे में आजादी की सुनहरी धूल-सी उड़ रही थी और साथ-ही-साथ अनिश्चय भी डोल रहा था, और इसी अनिश्चय की स्थिति में किसी-किसी वक्त भावी रिश्तों की रूपरेखा झलक दे जाती थी ।

शायद जेहलम का स्टेशन पीछे छूट चुका था जब ऊपरवाली बर्थ पर बैठे पठान ने एक पोटली खोल ली और उसमें से उबला हुआ मांस और नान-रोटी के टुकड़े निकाल-निकालकर अपने साथियों को देने लगा । फिर वह हँसी-मजाक के बीच मेरी बगल में बैठे बाबू की ओर भी नान का टुकड़ा और मांस की बोटी बढ़ाकर खाने का आग्रह करने लगा था, "खा ले, बाबू, ताकत आयेगी । हम-जैसा हो जायेगा। बीबी भी तेरे साथ खुश रहेगी । खा ले दालखोर, तू दाल खाता है इसलिए दुबला है....."

डिब्बे में लोग हँसने लगे थे । बाबू ने पश्तो में कुछ जवाब दिया और फिर मुस्कराता सिर हिलाता रहा ।

इस पर दूसरे पठान ने हँसकर कहा, "ओ जालिम, हमारे आथ से नई लेता ए तो अपने आथ से उठा ले , खुदा कसम ब्रर का गोश्त ए, और किसी चीज का नई ए ।"

ऊपर बैठा पठान चहककर बोला, "ओ खंजीर के तुख्म, इधर तुमें कौन देखता ए? हम तेरी बीबी को नई बोलेगा । ओ तू आमरे साथ बोटी तोड़ । हम तेरे साथ दाल पियेगा...."

इस पर कहकहा उठा, पर दुबला-पतला बाबू हंसता, सिर हिलाता रहा और कभी-कभी दो शब्द पश्तो में भी कह देता ।

"ओ कितना बुरा बात ए अम खाता ए, और तू अमारा मुँह देखता ए....." सभी पठान मगन थे ।

"यह इसलिए नहीं लेता कि तुमने हाथ नहीं धोये हैं....." स्थूलकाय सरदारजी बोले और बोलते ही खी-खी करने लगे । अधलेटी मुद्रा में बैठे सरदारजी की

आधी तोंद सीट के नीचे लटक रही थी–"तुम अभी सोकर उठे हो और उठते ही पोटली खोलकर खाने लग गये हो, इसीलिए बाबूजी तुम्हारे हाथ से नहीं लेते, और कोई बात नहीं ।" और सरदारजी ने मेरी ओर देखकर आँख मारी और फिर खी-खी करने लगे ।

"मांस नई खाता ए, बाबू तो जाओ जानाना डिब्बे में बैठो, इधर क्या करता ए?" फिर कहकहा उठा ।

डिब्बे में और भी अनेक मुसाफिर थे लेकिन पुराने मुसाफिर यही थे जो सफर शुरू होने पर गाड़ी में बैठे थे । बाकी मुसाफिर उतरते-चढ़ते रहे थे । पुराने मुसाफिर होने के नाते ही उनमें एक तरह की बेतकल्लुफी आ गयी थी ।

"ओ इधर आकर बैठो । तुम असारे साथ बैठो । आओ जालिम, किस्साखानी की बातें करेंगे ।"

तभी किसी स्टेशन पर गाड़ी रुकी थी और नये मुसाफिरों का रेला अन्दर आ गया था । बहुत-से मुसाफिर एक साथ अन्दर घुसते चले आये थे ।

"कौन-सा स्टेशन है ?" किसी ने पूछा ।

"वजीराबाद है शायद ।" मैने बाहर की ओर देखकर कहा ।

गाड़ी वहाँ थोड़ी देर के लिए खड़ी रही । पर छूटने से पहले एक छोटी-सी घटना घटी । एक आदमी साथवाले डिब्बे में से पानी लेने उतरा और नल पर जाकर पानी लोटे में भर रहा था जब वह भागकर अपने डिब्बे की ओर लौट आया। छलछलाते लोटे में से पानी गिर रहा था । लेकिन जिस ढंग से वह भागा था उसी ने बहुत कुछ बता दिया था । नल पर खड़े और लोग भी, तीन या चार आदमी रहे होंगे–इधर-उधर अपने-अपने डिब्बे की ओर भाग गये थे । इस तरह घबराकर भागते लोगों को मैं देख चुका था । देखते-ही-देखते प्लेटफार्म खाली हो गया । मगर डिब्बे के अन्दर अभी भी हँसी-मजाक चल रहा था ।

"कहीं कोई गड़बड़ है ।" मेरे पास बैठे दुबले बाबू ने कहा ।

कहीं कुछ था, लेकिन क्या था, कोई भी स्पष्ट नहीं जानता था । मैं अनेक दंगे देख चुका था, इसलिए वातावरण में होनेवाली छोटी-सी तब्दीली को भी भाँप गया था । भागते व्यक्ति, खटाक्-से बन्द होते दरवाजे, घरों की छतों पर खड़े लोग, चुप्पी और सन्नाटा, सभी दंगों के चिह्न थे ।

तभी पिछले दरवाजे की ओर से, जो प्लेटफार्म की ओर न खुलकर दूसरी ओर खुलता था, हल्का-सा शोर हुआ । कोई मुसाफिर अन्दर घुसना चाह रहा था ।

"कहाँ घुसा आ रहा, नहीं है जगह ! बोल दिया, जगह नहीं है ।" किसी ने कहा।

"बन्द करो जी दरवाजा । यों ही मुँह उठाये घुसे आते हैं...." आवाजें आ रही थी ।

जितनी देर कोई मुसाफिर डिब्बे के बाहर खड़ा अन्दर आने की चेष्टा करता रहे, अन्दर बैठे मुसाफिर उसका विरोध करते रहते हैं । पर एक बार जैसे-तैसे वह अन्दर आ जाये तो विरोध खत्म हो जाता है, और वह मुसाफिर जल्दी ही डिब्बे की दुनिया का निवासी बन जाता है, और अगले स्टेशन पर वही सबसे पहले बाहर खड़े मुसाफिरों पर चिल्लाने लगता है–'नहीं है जगह, अगले डिब्बे में जाओ...घुसे आते हैं....'

दरवाजे पर शोर बढ़ता जा रहा था । तभी मैले-कुचैले कपड़ों और लटकती मूंछोवाला एक आदमी दरवाजे में से अन्दर घुसता दिखायी दिया । चीकट मैले कपड़े, जरूर कहीं हलवाई की दुकान करता होगा । वह लोगों की शिकायतों-आवाजों की ओर ध्यान दिये बिना दरवाजे की ओर घूमकर बड़ा-सा काले रंग का सन्दूक अन्दर की ओर घसीटने लगा ।

"आ जाओ, आ जाओ, तुम भी चढ़ आओ !" वह अपने पीछे किसी से कहे जा रहा था । तभी दरवाजे में एक पतली सूखी-सी औरत नजर आयी और उसके पीछे सोलह-सत्तरह बरस की साँवली-सी एक लड़की अन्दर आ गयी । लोग अभी भी चिल्लाये जा रहे थे । सरदारजी को कूल्हों के बल उठकर बैठना पड़ा ।

"बन्द करो जी दरवाजा, बिना पूछे चढ़े आते हैं, अपने बाप का घर समझ रखा है। मत घुसने दो जी, क्या करते हो, धकेल दो पीछे...." और लोग भी चिल्ला रहे थे ।

वह आदमी अपना सामान अन्दर घसीटे जा रहा था और उसकी पत्नी और बेटी संडास के दरवाजे के साथ लगकर खड़ी थी ।

"और कोई डिब्बा नहीं मिला ? औरत जात को भी यहाँ उठा लाया है ?"

वह आदमी पसीने से तर था और हाँफता हुआ सामान अन्दर घसीटे जा रहा था । सन्दूक के बाद रस्सियों से बंधी खाट की पाटियाँ अन्दर खींचने लगा ।

"टिकट है जी मेरे पास, मैं बेटिकट नहीं हूँ । लाचारी है, शहर में दंगा हो गया है । बड़ी मुश्किल से स्टेशन तक पहुँचा हूँ ।" इस पर डिब्बे में बैठे बहुत-से लोग चुप हो गये, पर बर्थ पर बैठा पठान उचककर बोला, "निकल जाओ इदर से, देखता नईं ए उदर जगा नई ए ।"

और पठान ने आव देखा न ताव, आगे बढ़कर ऊपर से ही उस मुसाफिर के लात जमा दी, पर लात उस आदमी को लगने के बजाय उसकी पत्नी के कलेजे में लगी और वह वहीं हाय-हाय करती बैठ गयी।

उस आदमी के पास मुसाफिरों के साथ उलझने के लिए वक्त नहीं था । वह बराबर अपना सामान अन्दर घसीटे जा रहा था । पर डिब्बे में मौन छा गया। खाट की पाटियों के बाद बड़ी-बड़ी गठरियाँ आयीं । इस पर ऊपर बैठे पठान की सहन-क्षमता चुक गयी । "निकालो इसे, कौन ए ये ?" वह चिल्लाया। इस पर दूसरे पठान ने जो नीचे की सीट पर बैठा था, उस आदमी का सन्दूक दरवाजे में से नीचे धकेल दिया, जहाँ लाल वर्दी-वाला एक कुली खड़ा सामान अन्दर पहुँचा रहा था।

उसकी पत्नी के चोट लगने पर कुछ मुसाफिर चुप हो गये थे । केवल कोने में बैठी बुढ़िया कुरलाये जा रही थी, "ऐ नेकबख्तो, बैठन दो । आ जा बेटी, तू मेरे पास आ जा । जैसे-तैसे सफर काट लेंगे । छोड़ो बे जालिमो, बैठने दो।"

अभी आधा सामान ही अन्दर आ पाया होगा कि सहसा गाड़ी सरकने लगी।

"छूट गया ! सामान छूट गया !" वह आदमी बदहवास-सा होकर चिल्लाया।

"पिताजी, सामान छूट गया ।" संडास के दरवाजे के पास खड़ी लड़की सिर से पाँव तक काँप रही थी और चिल्लाये जा रही थी ।

"उतरो, नीचे उतरो," वह आदमी हड़बड़ाकर चिल्लाया, और आगे बढ़कर खाट की पाटियाँ और गठरियाँ बाहर फेंकते हुए दरवाजे का डण्डहरा पकड़कर नीचे उतर गया । उसके पीछे उसकी भयाकुल बेटी और फिर उसकी पत्नी, कलेजे को दोनों हाथों से दबाये हाय-हाय करती नीचे उतर गयी ।

"बहुत बुरा किया है तुम लोगों ने, बहुत बुरा किया है ।" बुढ़िया ऊँचा-ऊँचा बोल रही थी, "तुम्हारे दिल में दर्द मर गया है । छोटी-सी बच्ची उसके साथ थी। बेरहमो, तुमने बहुत बुरा किया है, धक्के देकर उतार दिया है ।"

गाड़ी सूने प्लेटफार्म को लांघती आगे बढ़ गयी । डिब्बे में व्याकुल-सी चुप्पी छा गयी । बुढ़िया ने बोलना बन्द कर दिया था । पठानों का विरोध कर पाने की किसी की हिम्मत नहीं हुई ।

तभी मेरी बगल में बैठे दुबले बाबू ने मेरे बाजू पर हाथ रखकर कहा, "आग है, देखो आग लगी है ।"

गाड़ी प्लेटफार्म छोड़ कर आगे निकल आयी थी और शहर पीछे छूट रहा था। तभी शहर की ओर से उठते धुएँ के बादल और उनमें लपलपाती आग के शोले नजर आने लगे थे ।

"दंगा हुआ है । स्टेशन पर भी लोग भाग रहे थे । कहीं दंगा हुआ है ।"

शहर में आग लगी थी । बात डिब्बे-भर के मुसाफिरों को पता चल गयी और वे लपक-लपककर खिड़कियों में से आग का दृश्य देखने लगे ।

जब गाड़ी शहर छोड़कर आगे बढ़ गयी तो डिब्बे में सन्नाटा छा गया । मैंने घूमकर डिब्बे के अन्दर देखा, दुबले बाबू का चेहरा पीला पड़ गया था और माथे पर पसीने की परत किसी मुर्दे के माथे की तरह चमक रही थी । मुझे लगा, जैसे अपनी-अपनी जगह बैठे सभी मुसाफिरों ने अपने आसपास बैठे लोगों का जायजा ले लिया है । सरदारजी उठकर मेरी सीट पर आ बैठे । नीचेवाली सीट पर बैठा पठान उठा और अपने दो साथी पठानों के साथ ऊपरवाली बर्थ पर चढ़ गया । यही क्रिया शायद रेलगाड़ी के अन्य डिब्बों में भी चल रही थी । डिब्बे में तनाव आ गया । लोगों ने बतियाना बन्द कर दिया । तीनों के तीनों पठान ऊपरवाली बर्थ पर एक साथ बैठे चुपचाप नीचे की ओर देखे जा रहे थे। सभी मुसाफिरों की आंख पहले से ज्यादा खुली-खुली, ज्यादा शंकित-सी लगी । यही स्थिति सम्भवत: गाड़ी के सभी डिब्बों में व्याप्त हो रही थी ।

"कौन-सा स्टेशन था यह ?" डिब्बे में किसी ने पूछा ।

"वजीराबाद ।" किसी ने उत्तर दिया ।

जवाब मिलने पर डिब्बे में एक और प्रतिक्रिया हुई । पठानों के मन का तनाव फौरन ढीला पड़ गया, जबकि हिन्दू-सिख मुसाफिरों की चुप्पी और ज्यादा गहरी हो गयी । एक पठान ने अपनी वास्कट की जेब में से नसवार की डिबिया निकाली और नाक में नसवार चढ़ाने लगा । अन्य पठान भी अपनी-अपनी डिबिया निकालकर नसवार चढ़ाने लगे । बुढ़िया बराबर माला जपे जा रही थी । किसी-किसी वक्त उसके बुदबुदाते होंठ नजर आते, लगता, उनमें से कोई खोखली-सी आवाज निकल रही है ।

अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो वहां भी सन्नाटा था । कोई परिन्दा तक नहीं फड़क रहा था । हाँ, एक भिश्ती, पीठ पर पानी की मशक लादे, प्लेटफार्म लाँघकर आया और मुसाफिरों को पानी पिलाने लगा ।

"लो, पियो पानी, पानी पियो ।" औरतों के डिब्बे में से औरतों और बच्चों के अनेक हाथ बाहर निकल आये थे ।

"बहुत मार-काट हुई है, बहुत लोग मरे हैं ।' लगता था, वह इस मार-काट में अकेला पुण्य कमाने चला आया था ।

गाड़ी सरकी तो सहसा खिड़कियों के पल्ले चढ़ाये जाने लगे । दूर-दूर तक, पहियों की गड़गड़ाहट के साथ, खिड़कियों के पल्ले चढ़ाने की आवाज आने लगी।

किसी अज्ञात आशंकावश दुबला बाबू मेरे पासवाली सीट पर से उठा और दो सीटों के बीच फर्श पर लेट गया । उसका चेहरा अभी भी मुर्दे-जैसा पीला हो रहा था । इस पर बर्थ पर बैठा पठान उसकी ठिठोली करने लगा—ओ बेगैरत, तुम मर्द ए कि औरत ए ? सीट पर से उठकर नीचे लेटता ए । तुम मर्द के नाम को बदनाम करता ए । ...वह बोल रहा था और बार-बार हँसे जा रहा था । फिर वह उससे पश्तो में कुछ कहने लगा । बाबू चुप बना लेटा रहा । अन्य सभी मुसाफिर चुप थे । डिब्बे का वातावरण बोझिल बना हुआ था ।

"ऐसे आदमी को अम डिब्बे में बैठने नई देगा । ओ बाबू, तुम अगले स्टेशन पर उतर जाओ, और जनाना डिब्बे में बैठो ।"

मगर बाबू की हाजिर-जवाबी अपने कण्ठ में सूख चली थी । हकलाकर चुप हो रहा । पर थोड़ी देर बाद वह अपने-आप सीट पर जा बैठा और देर तक अपने कपड़ों की धूल झड़ता रहा । वह क्यों उठकर फर्श पर लेट गया था । शायद उसे डर था कि बाहर से गाड़ी पर पथराव होगा या गोली चलेगी, शायद इसी कारण खिड़कियों के पल्ले चढ़ाये जा रहे थे।

कुछ भी कहना कठिन था। मुमकिन है किसी एक मुसाफिर ने किसी कारण से खिड़की का पल्ला चढ़ाया हो और उसकी देखा-देखी, बिना सोचे-समझे, धड़ाधड़ खिड़कियों के पल्ले चढ़ाये जाने लगे हों ।

बोझिल अनिश्चित-से वातावरण में सफर कटने लगा । रात गहराने लगी थी। डिब्बे के मुसाफिर स्तब्ध और शंकित ज्यों-के-त्यों बैठे थे । कभी गाड़ी का रफ्तार सहसा टूटकर धीमी पड़ जाती तो लोग एक-दूसरे की ओर देखने लगते । कभी रास्ते में ही रुक जाती तो डिब्बे के अन्दर का सन्नाटा और भी गहरा हो उठता। केवल पठान निश्चित बैठे थे। हाँ, उन्होंने भी बतियाना छोड़ दिया था, क्योंकि उनकी बातचीत में कोई भी शामिल होनेवाला नहीं था ।

धीरे-धीरे पठान ऊँघने लगे, जबकि अन्य मुसाफिर फटी-फटी आँखों से शून्य में देखे जा रहे थे । बुढ़िया मुंह-सिर लपेटे, टागें सीट पर चढ़ाये, बैठी-बैठी सो गयी थी। ऊपरवाली बर्थ पर एक पठान ने, अधलेटे ही, कुर्ते की जेब में से काले मनको की तसबीह निकाल ली और उसे धीरे-धीरे हाथ में चलाने लगा ।

खिड़की के बाहर आकाश में चाँद निकल आया और चाँदनी में बाहर की दुनिया और भी अनिश्चित, और भी अधिक रहस्यमयी हो उठी । किसी-किसी वक्त दूर किसी ओर आग के शोले उठते नजर आते, कोई नगर जल रहा था। गाड़ी किसी वक्त चिंघाड़ती हुई आगे बढ़ने लगती, फिर किसी वक्त उसकी रफ्तार धीमी पड़ जाती और मीलों तक धीमी रफ्तार से ही चलती रहती ।

सहसा दुबला बाबू खिड़की में से बाहर देखकर ऊँची आवाज में बोला, "हरबंसपुरा निकल गया है !" उसकी आवाज में उत्तेजना थी, वह जैसे चीखकर बोला था । डिब्बे के सभी लोग उसकी आवाज सुनकर चौंक गये । उसी वक्त डिब्बे के अधिकांश मुसाफिरों ने मानो उसकी आवाज को ही सुनकर करवट बदली।

"ओ बाबू, चिल्लाता क्यों ए ?" तसबीहवाला पठान चीखकर बोला, "इधर उतरेगा तुम ? जंजीर खींच ?" और खीं-खीं करके हँस दिया । जाहिर है, वह हरबंसपुरा की स्थिति से अथवा उसके नाम से अनभिज्ञ था ।

बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल सिर हिला दिया और एक-आध बार पठान की ओर देखकर फिर खिड़की के बाहर झाँकने लगा ।

डिब्बे में फिर मौन छा गया । तभी इंजन ने सीटी दी और एक-रस रफ्तार टूट गयी । थोड़ी ही देर बाद खटाक् का-सा शब्द भी हुआ, शायद गाड़ी ने लाइन बदली थी । बाबू ने झाँककर उस दिशा में देखा जिस ओर गाड़ी बढ़ी जा रही थी ।

"शहर आ गया है !" वह फिर ऊँची आवाज में चिल्लाया, "अमृतसर आ गया है !" उसने फिर से कहा और उछलकर खड़ा हो गया, और ऊपरवाली बर्थ पर लेटे पठान को सम्बोधन करके चिल्लाया, "ओ बे पठान के बच्चे ! नीचे उतर ! तेरी माँ की.....नीचे उतर, तेरी उस पठान बनानेवाले की मैं....."

बाबू चिल्लाने लगा था और चीख-चीखकर गालियाँ बकने लगा था । तसबीहवाले पठान ने करवट बदली और बाबू की ओर देखकर बोला, "ओ क्या ए बाबू ? अम को कुछ बोला ?"

बाबू को उत्तेजित देखकर अन्य मुसाफिर भी उठ बैठे ।

"नीचे उतर, तेरी मैं.....हिन्दू औरत को लात मारता है, हरामजादे, तेरी उस......"

"ओ बाबू, बक-बक नई करो । ओ खजीर के तुख्म, गाली मत बको, अमने बोल दिया । अम तुम्हारा जबान खींच लेगा ।"

"गाली देता है मादर....." बाबू चिल्लाया और उछलकर सीट पर चढ़ गया। वह सिर से पाँव तक काँप रहा था ।

"बस-बस, सरदारजी बोले, "यह लड़ने की जगह नहीं है । थोड़ी देर का सफर बाकी है, आराम से बैठो ।"

"तेरी मैं लात ना तोड़ूँ तो कहना, गाड़ी तेरे बाप की है ?" बाबू चिल्लाया।

"ओ अमने क्या बोला ! सभी लोग उसको निकालता था, अमने भी निकाला। ये इदर अमको गाली देता ए । अम इसका जबान खींच लेगा ।"

बुढ़िया बीच में फिर बोल उठी, "वे जीण जोगयो, अराम नाल बैठो, वे रब्ब जियों बंदयो, कुज होश करो ।"

उसके होंठ किसी प्रेत के होंठों की तरह फड़फड़ाये जा रहे थे और उनमें से क्षीण-सी फुसफुसाहट सुनायी दे रही थी ।

बाबू चिल्लाये जा रहा था, "अपने घर में शेर बनता था । अब बोल, तेरी मैं उस पठान बनानेवाले की ......"

तभी गाड़ी अमृतसर के प्लेटफार्म पर रुकी । प्लेटफार्म लोगों से खचाखच भरा था । प्लेटफार्म पर खड़े लोग झाँक-झाँककर डिब्बों के अन्दर देखने लगे । बार-बार लोग एक ही सवाल पूछ रहे थे–पीछे क्या हुआ है ? कहाँ पर दंगा हुआ है ?

खचाखच भरे प्लेटफार्म पर शायद इसी बात की चर्चा चल रही थी कि पीछे क्या हुआ है । प्लेटफार्म पर खड़े दो-तीन खोमचेवालों पर मुसाफिर टूटे पड़ रहे थे । सभी को सहसा भूख और प्यास परेशान करने लगी थी । इसी दौरान तीन-चार पठान हमारे डिब्बे के बाहर प्रकट हो गये और खिड़की में से झाँक-झाँककर अन्दर देखने लगे। अपने पठान साथियों पर नजर पड़ते ही वे उनसे पश्तो में कुछ बोलने लगे। मैंने घूमकर देखा, बाबू डिब्बे में नहीं था । न जाने कब वह डिब्बे में से निकल गया था । मेरा माथा ठनका । गुस्से से वह पागल हुआ जा रहा था। न जाने क्या कर बैठे ! पर इस बीच डिब्बे के तीनों पठान, अपनी-अपनी गठरी उठाकर बाहर निकल गये और अपने पठान साथियों के साथ गाड़ी के अगले किसी डिब्बे की ओर बढ़ गये । जो विभाजन पहले प्रत्येक डिब्बे के भीतर होता रहा था, अब सारी गाड़ी के स्तर पर होने लगा था ।

खोमचेवालों के इर्द-गिर्द भीड़ छँटने लगी । लोग अपने-अपने डिब्बों में लौटने लगे। तभी सहसा एक ओर से मुझे वह बाबू आता दिखायी दिया।

उसका चेहरा अभी भी बहुत पीला था और माथे पर बालों की लट झूल रही थी। नज़दीक पहुँचा, तो मैंने देखा, उसने अपने दायें हाथ में लोहे की एक छड़ उठा रखी थी। जाने वह उसे कहां से मिल गयी थी। डिब्बे में घुसते समय उसने छड़ को अपनी पीठ-पीछे कर लिया और मेरे साथवाली सीट पर बैठने से पहले उसने हौले से छड़ को सीट के नीचे सरका दिया। सीट पर बैठते ही उसकी आँखें पठान को देख पाने के लिए ऊपर को उठीं। पर डिब्बे में पठानों को न पाकर वह हड़बड़ाकर चारों ओर देखने लगा।

"निकल गये हरामी, मादर.....सब-के-सब निकल गये !" फिर वह सिटपिटाकर उठ खड़ा हुआ और चिल्लाकर बोला, "तुमने उन्हें जाने क्यों दिया ? तुम सब नामर्द हो, बुजदिल !"

पर गाड़ी में भीड़ बहुत थी बहुत-से नये मुसाफिर आ गए थे। किसी ने उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

गाड़ी सरकने लगी तो वह फिर मेरी बगलवाली सीट पर आ बैठा, पर वह बड़ा उत्तेजित था और बराबर बड़बड़ाये जा रहा था।

धीरे-धीरे हिचकोले खाती गाड़ी आगे बढ़ने लगी। डिब्बे के पुराने मुसाफिरों ने भरपेट पूरियाँ खा ली थीं और पानी पी लिया था और गाड़ी उस इलाके से आगे बढ़ने लगी थी, जहाँ उनके जान-माल को खतरा नहीं था।

नये मुसाफिर बतिया रहे थे। धीरे-धीरे गाड़ी फिर समतल गति से चलने लगी थी। कुछ ही देर बाद लोग ऊँघने भी लगे थे। मगर बाबू अभी भी फटी-फटी आँखों से सामने की ओर देखे जा रहा था। बार-बार मुझसे पूछता कि पठान डिब्बे में से निकलकर किस ओर गये हैं। उसके सिर पर जनून सवार था।

गाड़ी के हिचकोलों में मैं खुद ऊँघने लगा था। डिब्बे में लेट पाने के लिए जगह नहीं थी। बैठे-बैठे ही नींद में मेरा सिर कभी एक ओर को लुढ़क जाता, कभी दूसरी ओर को। किसी-किसी वक्त झटके से मेरी नींद टूटती, और मुझे सामने की सीट पर अस्त-व्यस्त-से पड़े सरदारजी के खर्राटे सुनायी देते—अमृतसर पहुँचने के बाद सरदारजी फिर से सामनेवाली सीट पर टाँगें पसारकर लेट गये थे। डिब्बे में तरह-तरह की आड़ीतिरछी मुद्राओं में मुसाफिर पड़े थे। उनकी वीभत्स मुद्राओं को देखकर लगता, डिब्बा लाशों से भरा है। पास बैठे बाबू पर नजर पड़ती तो कभी तो वह खिड़की के बाहर मुँह किये देख रहा होता, कभी दीवार से पीठ लगाये तनकर बैठा नजर आता।

किसी-किसी वक्त गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकती तो पहियों की गड़गड़ाहट बन्द होने पर निःस्तब्धता-सी छा जाती । तभी लगता, जैसे प्लेटफार्म पर कुछ गिरा है, या जैसे कोई मुसाफिर गाड़ी में से उतरा है और मैं झटके से उठकर बैठ जाता।

इसी तरह एक बार जब मेरी नींद टूटी तो गाड़ी की रफ्तार धीमी पड़ गयी थी, और डिब्बे में अँधेरा था । मैंने उसी तरह अधलेटे खिड़की में से बाहर देखा। दूर, पीछे की ओर किसी स्टेशन के सिगनल के लाल कुमकुमे चमक रहे थे । स्पष्टतः गाड़ी कोई स्टेशन लाँधकर आयी थी । पर अभी तक उसने रफ्तार नहीं पकड़ी थी।

डिब्बे के बाहर मुझे धीमे-से अस्फुट स्वर सुनायी दिये । दूर ही एक धूमिल-सा काला पुजं नजर आया । नींद की खुमारी में मेरी आँखें कुछ देर तक उस पर लगी रहीं, फिर मैंने उसे समझ पाने का विचार छोड़ दिया । डिब्बे के अन्दर अँधेरा था, बत्तियाँ बुझी हुई थीं लेकिन बाहर लगता था, पौ फटनेवाली है ।

मेरी पीठ-पीछे, डिब्बे के बाहर किसी चीज को खरोंचने की-सी आवाज आयी। मैंने दरवाजे की ओर घूमकर देखा । डिब्बे का दरवाजा बन्द था । मुझे फिर से दरवाजा खरोंचने की आवाज सुनायी दी, फिर मैंने साफ-साफ सुना, लाठी से कोई व्यक्ति डिब्बे का दरवाजा पटपटा रहा था । मैंने झाँककर खिड़की के बाहर देखा। सचमुच एक आदमी डिब्बे की दो सीढ़ियाँ चढ़ आया था । उसके कन्धे पर एक गठरी झूल रही थी और हाथ में लाठी थी और उसने बदरंग-से कपड़े पहन रखे थे और उसके दाढ़ी थी । फिर मेरी नजर बाहर नीचे की ओर गयी । गाड़ी के साथ-साथ एक औरत भागती चली आ रही थी, नंगे पाँव और उसने दो गठरियाँ उठा रखी थीं । बोझ के कारण उससे दौड़ा नहीं जा रहा था । डिब्बे के पायदान पर खड़ा आदमी बार-बार उसकी ओर मुड़कर देख रहा था और हाँफता हुआ कहे जा रहा था–आ जा, आ जा, तू भी चढ़ आ, आ जा !

दरवाजे पर फिर से लाठी पटपटाने की आवाज आयी, "खोलो जी दरवाजा, खुदा के वास्ते दरवाजा खोलो ।"

वह आदमी हाँफ रहा था, "खुदा के लिए दरवाजा खोलो । मेरे साथ में औरत जात है । गाड़ी निकल जायेगी......"

सहसा मैंने देखा, बाबू हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ और दरवाजे के पास जाकर दरवाजे में लगी खिड़की में से मुँह बाहर निकालकर बोला, "कौन है ? इधर जगह नहीं है ।"

बाहर खड़ा आदमी फिर गिड़गिड़ाने लगा, "खुदा के वास्ते गाड़ी निकल जायेगी....."

और वह आदमी खिड़की में से अपना हाथ अन्दर डालकर दरवाजा खोल पाने के लिए सिटकनी टटोलने लगा ।

"नहीं है जगह, बोल दिया, उतर जाओ गाड़ी पर से ।" बाबू चिल्लाया और उसी क्षण लपककर दरवाजा खोल दिया ।

"या अल्लाह !" उस आदमी के अस्फुट-से शब्द सुनायी दिये । दरवाजा खुलने पर जैसे उसने इत्मीनान की साँस ली हो ।

और उसी वक्त मैंने बाबू के हाथ में छड़ को चमकते देखा । एक ही भरपूर वार बाबू ने उस मुसाफिर के सिर पर किया था । मैं देखते ही डर गया और मेरी टाँगें लरज गयी । मुझे लगा, जैसे छड़ के वार का उस आदमी पर कोई असर नहीं हुआ । उसके दोनों हाथ अभी भी जोर से डण्डहरे को पकड़े हुए थे। कन्धे पर से लटकती गठरी खिसककर उसकी कोहनी पर आ गयी थी ।

तभी सहसा उसके चेहरे पर लहू की दो-तीन धारें एक साथ फूट पड़ीं । झुरमुटे में उसके खुले होंठ और चमकते दाँत नजर आये । वह दो-एक बार 'या अल्लाह !' बुदबुदाया, फिर उसके पैर लड़खड़ा गये । उसकी आँखों ने बाबू की ओर देखा, अधमुँदी-सी आँखें,जो धीरे-धीरे सिकुड़ती जा रही थीं, मानो उसे पहचानने की कोशिश कर रही हों कि वह कौन है और उससे किस अदावत का बदला ले रहा है। इस बीच अँधेरा कुछ और छन गया था । उसके होंठ फिर से फड़फड़ाये और उनमें उसके सफेद दाँत फिर से झलक उठे। मुझे लगा, जैसे वह मुसकराया है, पर वास्तव में केवल त्रास के ही कारण उसके होंठों मे बल पड़ने लगे थे ।

नीचे पटरी के साथ-साथ भागती औरत बड़बड़ाये और कोसे जा रही थी । उसे भी मालूम नहीं हो पाया था कि क्या हुआ है । वह अभी भी शायद यही समझ रही थी कि गठरी के कारण उसका पति गाड़ी पर ठीक तरह से चढ़ नहीं पा रहा है, कि उसका पैर जम नहीं पा रहा है । वह गाड़ी के साथ-साथ भागती हुई, अपनी दो गठरियों के बावजूद अपने पति के पैर को पकड़-पकड़कर सीढ़ी पर टिकाने की कोशिश कर रही थी ।

तभी सहसा डण्डहरे पर उस आदमी के दोनों हाथ छूट गये और वह कटे पेड़ की भाँति नीचे जा गिरा । और उसके गिरते ही औरत ने भागना बन्द कर दिया, मानो दोनों का सफर एक साथ ही खत्म हो गया हो ।

बाबू अभी भी मेरे निकट, डिब्बे के खुले दरवाजे में बुत-का-बुत बना खड़ा था, लोहे के छड़ अभी भी उसके हाथ में थी । मुझे लगा, जैसे वह छड़ को फेंक देना चाहता है लेकिन उसे फेंक नहीं पा रहा, उसका हाथ जैसे उठ नहीं

रहा था । मेरी साँस अभी भी फूली हुई थी और डिब्बे के अँधियारे कोने में मैं खिड़की के साथ सटकर बैठा उसकी ओर देखे जा रहा था ।

फिर वह आदमी खड़े-खड़े हिला । किसी अज्ञात प्रेरणावश वह एक कदम आगे बढ़ आया और दरवाजे में से बाहर पीछे की ओर देखने लगा । गाड़ी आगे निकलती जा रही थी । दूर, पटरी के किनारे अँधियारा पुंजसा नजर आ रहा था ।

बाबू का शरीर हरकत में आया । एक झटके में उसने छड़ को डिब्बे के बाहर फेंक दिया । फिर घूमकर डिब्बे के अन्दर दायें-बायें देखने लगा । सभी मुसाफिर सोये पड़े थे । मेरी ओर उसकी नजर नहीं उठी ।

थोड़ी देर तक वह खड़ा डोलता रहा, फिर उसने घूमकर दरवाजा बन्द कर दिया। उसने ध्यान से अपने कपड़ों की ओर देखा, अपने दोनों हाथों की ओर देखा, फिर एक-एक करके अपने दोनों हाथों को नाक के पास ले जाकर उन्हें सूंघा, मानो जानना चाहता हो कि उसके हाथों से खून की बू तो नहीं आ रही है । फिर वह दबे पाँव चलता हुआ आया और मेरी बगलवाली सीट पर बैठ गया ।

धीरे-धीरे झुटपुटा छँटने लगा, दिन खुलने लगा । साफ-सुथरी-सी रोशनी चारों ओर फैलने लगी । किसी ने जंजीर खींचकर गाड़ी को खड़ा नहीं किया था, छड़ खाकर गिरी उसकी देह मीलों पीछे छूट चुकी थी । सामने गेहूँ के खेतों में फिर से हल्की-हल्की लहरियाँ उठने लगी थी ।

सरदारजी बदन खुजलाते उठ बैठे । मेरी बगल में बैठा बाबू, दोनों हाथ सिर के पीछे रखे सामने की ओर देखे जा रहा था । रात-भर में उसके चेहरे पर दाढ़ी के छोटे-छोटे बाल उग आये थे , अपने सामने बैठा देखकर सरदार उसके साथ बतियाने लगा–"बड़े जीवटवाले हो बाबू दुबले-पतले हो, पर बड़े गुर्देवाले हो । बड़ी हिम्मत दिखायी है । तुमसे डरकर ही वे पठान डिब्बे में से निकल गये । यहाँ बने रहते तो एक-न-एक की खोपड़ी तुम जरूर दुरुस्त कर देते...." और सरदारजी हँसने लगे ।

बाबू जवाब में मुसकराया–एक वीभत्स-सी मुसकान, और देर तक सरदार के चेहरे की ओर देखता रहा ।

इंस्पेक्टर मातादीन चांद पर

हरिशंकर परसाई

वैज्ञानिक कहते हैं, चांद पर जीवन नहीं है। पर सीनियर पुलिश इंस्पेक्टर मातादीन (डिपार्टमेंट में एम.डी० साब) कहते हैं—वैज्ञानिक झूठ बोलते हैं, वहां हमारे जैसे ही मनुष्यों की आबादी है।

विज्ञान ने हमेशा इंस्पेक्टर मातादीन से मात खायी है। फिंगर प्रिंट विशेषज्ञ कहता रहता है—छुरे पर पाये गये निशान मुलजिम की अंगुलियों के नहीं हैं। पर मातादीन उसे सजा दिला ही देते हैं।

मातादीन कहते हैं, "ये वैज्ञानिक केस का पूरा इन्वेस्टिगेशन नहीं करते। उन्होंने चांद का उजला हिस्सा देखा और कह दिया, वहां जीवन नहीं है। मैं चांद का अंधेरा हिस्सा देखकर आया हूं। वहां मनुष्य जाति है।"

यह बात सही है, क्योंकि अंधेरे-पक्ष के मातादीन माहिर माने जाते हैं। पूछा जायेगा इंस्पेक्टर मातादीन चांद पर क्यों गये थे ? टूरिस्ट की हैसियत से या किसी फरार अपराधी को पकड़ने ? नहीं, वे भारत की तरफ से सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अंतर्गत गये थे। चांद सरकार ने भारत सरकार को लिखा था, "यों हमारी सभ्यता बहुत आगे बढ़ी है। पर हमारी पुलिस में पर्याप्त सक्षमता नहीं है। वह अपराधी का पता लगाने और उसे सजा दिलाने में अक्सर सफल नहीं होती। सुना है, आपके यहां रामराज है। मेहरबानी करके किसी पुलिस अफसर को भेजें जो हमारी पुलिस को शिक्षित कर दे।"

गृहमंत्री ने सचिव से कहा, "किसी आई.जी. को भेज दो।"

सचिव ने कहा, "नहीं सर, आई.जी. नहीं भेजा जा सकता। प्रोटोकाल का सवाल है। चांद हमारा एक क्षुद्र उपग्रह है। आई.जी. के रैंक के आदमी को नहीं भेजेंगे। किसी सीनियर इंस्पेक्टर को भेज देता हूं।"

तय किया गया कि हजारों मामलों के इनवेस्टिगेटिंग ऑफीसर सीनियर इंस्पेक्टर मातादीन को भेज दिया जाये।

चांद की सरकार को लिख दिया गया कि आप मातादीन को लेने के लिए पृथ्वी-यान भेज दीजिए।

पुलिस-मंत्री ने मातादीन को बुलाकर कहा, "तुम भारतीय पुलिस की उज्ज्वल परंपरा के दूत की हैसियत से जा रहे हो। ऐसा काम करना कि सारे अंतरिक्ष

में डिपार्टमेंट की ऐसी जय-जयकार हो कि पी.एम. (प्रधानमंत्री) को भी सुनायी पड़ जाये।"

मातादीन की यात्रा का दिन आ गया। एक यान अंतरिक्ष अड्डे पर उतरा। मातादीन सबसे विदा लेकर यान की तरफ बढ़े। वे धीरे-धीरे कहते जा रहे थे, प्रविसि नगर कीजै सब काजा, हृदय राखि कोसलपुर राजा। यान के पास पहुंचकर मातादीन ने मुंशी अब्दुल गफूर को पुकारा, "मुंशी !"

गफूर ने एड़ी मिलाकर सेल्यूट फटकारा। बोला, "जी, पेक्टसा !"

"एफ.आई. आर. रख दी है ?"

"जी पेक्टसा !"

"और रोजनामचे का नमूना ?"

"जी, पेक्टसा !"

वे यान में बैठने लगे। हवलदार बलभद्दर को बुलाकर कहा, "हमारे घर में जचकी के वखत अपने खटला (पत्नी) को मदद के लिए भेज देना।"

बलभद्दर ने कहा, "जी पेक्टसा !"

गफूर ने कहा, "आप बेफिक्र रहें, पेक्टसा ! मैं अपने मकान (पत्नी) को भी भेज दूंगा खिदमत के लिए।"

मातादीन ने यान के चालक से पूछा, "ड्राइविंग लाइसेंस है ?"

"जी है, साहब !"

"और गाड़ी में बत्ती ठीक है ?"

"जी, ठीक है।"

मातादीन ने कहा, "सब ठीक-ठाक होना चाहिए वरना हरामजादे का बीच अंतरिक्ष में चालान कर दूंगा।"

चंद्रमा से आये चालक ने कहा, "हमारे यहां आदमी से इस तरह नहीं बोलते।"

मातादीन ने कहा, "जानता हूं, बे ! तुम्हारी पुलिस कमजोर है। अभी मैं उसे ठीक करता हूं।"

मातादीन यान में कदम रख ही रहे थे कि हवलदार रामसजीवन भागता हुआ आया। बोला, "पेक्टसा, एस.पी. साहब के घर में से कहा है कि चांद में से एड़ी चमकाने का पत्थर लेते आना।"

मातादीन खुश हुए। बोले, "कह देना बाई साब से, जरूर लेता आऊंगा।" वे यान में बैठे और यान उड़ चला। पृथ्वी के वायुमंडल से यान बाहर निकला ही था कि मातादीन ने कहा, "अबे, हार्न क्यों नहीं बजाता ?"

चालक ने जवाब दिया, "आसपास लाखों मील में कुछ नहीं है।"

मातादीन ने डांटा, "मगर रूल इज रूल। हार्न बजाता चल।"

चालक अंतरिक्ष में हार्न बजाता हुआ यान को चांद पर उतार लाया। अंतरिक्ष अड्डे पर पुलिस अधिकारी मातादीन के स्वागत के लिए खड़े थे। मातादीन रोब से उतरे और उन अफसरों के कंधों पर नजर डाली। वहां किसी के स्टार नहीं थे। फीते भी किसी के नहीं लगे थे। लिहाजा मातादीन ने एड़ी मिलाना और हाथ उठाना जरूरी नहीं समझा। फिर उन्होंने सोचा, मैं यहां इंस्पेक्टर की हैसियत से नहीं, सलाहकार की हैसियत से आया हूं।

मातादीन को वे लोग लाइन में ले गये और एक अच्छे बंगले में उन्हें टिका दिया। एक दिन आराम करने के बाद मातादीन ने काम शुरू कर दिया। पहले उन्होंने पुलिस लाइन का मुआईना किया।

शाम को उन्होंने आई.जी. से कहा, "आपके यहां पुलिस लाइन में हनुमान जी का मंदिर नहीं है। हमारे रामराज में हर पुलिस लाइन में हनुमान जी हैं।"

आई.जी. ने कहा, "हनुमान कौन थे? हम नहीं जानते।"

मातादीन ने कहा, "हनुमान का दर्शन हर कर्त्तव्य-परायण पुलिस वाले के लिए जरूरी है। हनुमान सुग्रीव के यहां स्पेशल ब्रांच में था। उन्होंने सीता माता का पता लगाया था। एब्डक्शन का मामला था दफा ३६२। हनूमान जी ने रावण को सजा वहीं दे दी। उसकी प्रापर्टी में आग लगा दी। पुलिस को यह अधिकार होना चाहिए कि अपराधी को पकड़ा और वहीं सजा दे दी। अदालत में जाने का झंझट नहीं, मगर यह सिस्टम अभी हमारे रामराज में चालू भी नहीं हुआ। हनूमान जी के काम से भगवान रामचंद्र बहुत खुश हुए। वे उन्हें अयोध्या ले आये और ऑन ड्यूटी में तैनात कर दिया। वही हनुमान हमारे आराध्यदेव हैं। मैं उनकी फोटो लेता आया हूं। उससे मूर्तियां बनवाइए और हर पुलिस लाइन में स्थापित करवाइये।"

थोड़े ही दिनों में चांद की हर पुलिस लाइन में हनुमान जी स्थापित हो गये।

मातादीन जी उन कारणों का अध्ययन कर रहे थे जिनसे पुलिस लापरवाह और काहिल हो गयी है। वह अपराधों पर ध्यान नहीं देती। कोई कारण नहीं

मिल रहा था । एकाएक उनकी बुद्धि में एक चमक आयी । उन्होंने मुंशी से कहा, "जरा तनखा का रजिस्टर बताओ ।"

तनखा का रजिस्टर देखा, तो सब समझ गये । कारण पकड़ में आ गया । शाम को उन्होंने पुलिस-मंत्री से कहा, "मैं समझ गया कि आपकी पुलिस मुस्तैद क्यों नहीं है । आप इतनी बड़ी तनख्वाहें देते हैं । इसीलिए सिपाही को पांच सौ, हवलदार को सात सौ, थानेदार को हजार–यह क्या मजाक है ! आखिर पुलिस अपराधी को क्यों पकड़े ? हमारे यहां सिपाही को सौ और इंस्पेक्टर को दो सौ देते हैं तो वे चौबीस घंटे जुर्म की तलाश करते हैं । आप तनख्वाहें फौरन घटाइए ।"

पुलिस-मंत्री ने कहा, "मगर यह तो अन्याय होगा । अच्छा वेतन नहीं मिलेगा तो वे काम ही क्यों करेंगे ?"

मातादीन ने कहा, "इसमें कोई अन्याय नहीं है । आप देखेंगे कि पहली घटी हुई तनखा मिलते ही आपकी पुलिस की मनोवृत्ति में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जायेगा ।"

पुलिस-मंत्री ने तनख्वाहें घटा दी और दो-तीन महीनों में सचमुच बहुत फर्क आ गया । पुलिस एकदम मुस्तैद हो गयी । सोते से एकदम जाग गयी । चारों तरफ नजर रखने लगी । अपराधियों की दुनिया में घबराहट छा गयी । पुलिस-मंत्री ने तमाम थानों के रिकार्ड बुलवाकर देखे । पहले से कई गुने अधिक केस रजिस्टर हुए थे । उन्होंने मातादीन से कहा, "मैं आपकी सूझ की तारीफ करता हूं । आपने क्रांति कर दी । पर यह हुआ किस तरह ?"

मातादीन ने समझाया, "बात बहुत मामूली है । कम तनखा दोगे, तो मुलाजिम की गुजर नहीं होगी। सौ रुपयों में सिपाही बच्चों को नहीं पाल सकता । दो सौ में इंस्पेक्टर ठाठ-बाट मेनटन नहीं कर सकता है ? उसे ऊपरी आमदनी करनी ही पड़ेगी । और ऊपरी आमदनी तभी होगी जब वह अपराधी को पकड़ेगा। गरज कि वह अपराधों पर नजर रखेगा । सचेत, कर्त्तव्यपरायण और मुस्तैद हो जायेगा। हमारे रामराज के स्वच्छ और सक्षम प्रशासन का यही रहस्य है ।"

चंद्रलोक में इस चमत्कार की खबर फैल गयी । लोग मातादीन को देखने आने लगे कि वह आदमी कैसा है जो तनखा कम करके सक्षमता ला देता है । पुलिस के लोग भी खुश थे । वे कहते, "गुरु, आप इधर न पधारते तो हम सभी कोरी तनखा में ही गुजर करते रहते ।"

सरकार भी खुश थी कि मुनाफे का बजट बनने वाला था।

आधी समस्या हल हो गयी । पुलिस अपराधी पकड़ने लगी थी । अब मामले की जांच-विधि में सुधार करना रह गया था । अपराधी को पकड़ने के बाद इसे सजा कैसे दिलायी जाये । मातादीन इंतजार कर रहे थे कि कोई बड़ा केस हो जाये तो नमूने के तौर पर उसका इन्वेस्टिगेशन कर बतायें ।

एक दिन आपसी मारपीट में एक आदमी मारा गया । मातादीन कोतवाली में आकर बैठ गये और बोले, "नमूने के लिए इस केस का 'इन्वेस्टिगेशन' मैं करता हूं । आप लोगसीखिए । यह कत्ल का केस है । कत्ल के केस में 'एविडेंस' बहुत पक्की होनी चाहिए ।"

कोतवाल ने कहा, "पहले कातिल का पता लगाया जायेगा, तभी तो 'एविडेंस' इकट्ठा की जायेगी।"

मातादीन ने कहा, "नहीं, उलटे मत चलो । पहले एविडेंस देखो । क्या कहीं खून मिला ? किसी के कपड़ों पर या और कहीं ?"

एक इंस्पेक्टर ने कहा, "हां, मारने वाले तो भाग गये थे । मृतक सड़क पर बेहोश पड़ा था । एक भला आदमी वहां रहता है । उसने उठाकर अस्पताल भेजा। उस भले आदमी के कपड़ों पर खून के दाग लग गये हैं ।"

मातादीन ने कहा, "उसे फौरन गिरफ्तार करो ।"

कोतवाल बोला, "मगर उसने तो मरते हुए आदमी की मदद की थी ।"

मातादीन ने कहा, "वह सब ठीक है । पर तुम खून के दाग ढूंढ़ने और कहां जाओगे ? जो एविडेंस मिल रहा है, उसे तो कब्जे में करो ।"

वह भला आदमी पकड़कर बुलवा लिया गया । उसने कहा, "मैंने तो मरते हुए आदमी को अस्पताल भिजवाया था । मेरा क्या कसूर है ?"

चांद की पुलिस उसकी बात से एकदम प्रभावित हुई । मातादीन प्रभावित नहीं हुए । सारा पुलिस महकमा उत्सुक था कि अब मातादीन क्या तर्क निकालते हैं।

मातादीन ने उससे कहा, "पर तुम झगड़े की जगह गया क्यों ?"

उसने जवाब दिया, "मैं झगड़े की जगह नहीं गया । मेरा वहां मकान है । झगड़ा मेरे मकान के सामने हुआ ।"

अब फिर मातादीन की प्रतिभा की परीक्षा थी । सारा महकमा उत्सुक देख रहा था ।

मातादीन ने कहा, "मकान है, तो ठीक है । पर मैं पूछता हूं, झगड़े की जगह जाना ही क्यों ?"

इस तर्क का कोई जवाब नहीं था । वह बार-बार कहता, ''मैं झगड़े की जगह नहीं गया। मेरा वहीं मकान है ।''

मातादीन उसे जवाब देते, ''सो ठीक है, पर झगड़े की जगह जाना ही क्यों ?'' इस तर्क प्रणाली से पुलिस के लोग बहुत प्रभावित हुए ।

अब मातादीन जी ने इन्वेस्टिगेशन का सिद्धांत समझाया:

''देखो आदमी मारा गया है, तो यह पक्का है कि किसी ने उसे जरूर मारा। कोई कातिल है । किसी को सजा होनी है । सवाल है–किसको सजा होनी है? पुलिस के लिए यह सवाल इतना महत्व नहीं रखता जितना यह सवाल कि जुर्म किस पर साबित हो सकता है या किस पर साबित होना चाहिए। कत्ल हुआ है, तो किसी मनुष्य को सजा होगी ही । मारने वाले को होती है, या बेकसूर को यह अपने सोचने की बात नहीं है । मनुष्य-मनुष्य सब बराबर हैं। सबमें उसी परमात्मा का अंश है। हम भेदभाव नहीं करते । यह पुलिस का मानवतावाद है।

''दूसरा सवाल है, किस पर जुर्म साबित होना चाहिए । इसका निर्णय इन बातों से होगा–(1) क्या वह आदमी पुलिस के रास्ते में आता है ? (2) क्या उसे सजा दिलाने से ऊपर के लोग खुश होंगे ?''

मातादीन को बताया गया कि वह आदमी भला है, पर पुलिस अन्याय करे तो विरोध करता है । जहां तक ऊपर के लोगों का सवाल है–वह वर्तमान सरकार की विरोधी राजनीति वाला है ।

मातादीन ने टेबल ठोककर कहा, ''फर्स्ट क्लास केस ! एविडेंस । और ऊपर का सपोर्ट ।''

एक इंस्पेक्टर ने कहा, ''पर हमारे गले यह बात नहीं उतरती कि एक निरपराध भले आदमी को सजा दिलायी जाये ।''

मातादीन ने समझाया, ''देखो, मैं समझा चुका हूं कि सबमें उसी ईश्वर का अंश है । सजा इसे हो या कातिल को, फांसी पर तो ईश्वर ही चढ़ेगा न ! फिर तुम्हें कपड़ों पर खून मिल रहा है । इसे छोड़कर तुम कहां खून ढूंढ़ते फिरोगे? तुम तो भरो एफ.आई.आर ।''

मातादीन जी ने एफ.आई.आर. भरवा दी । 'बखत जरूरत के लिए' जगह खाली छुड़वा दी ।

दूसरे दिन पुलिस कोतवाल ने कहा, ''गुरुदेव, हमारी तो बड़ी आफत है ।

तमाम भले आदमी आते हैं और कहते हैं, उस बेचारे बेकसूर को क्यों फंसा रहे हो ? ऐसा तो चंद्रलोक में कभी नहीं हुआ । बताइए, हम क्या जवाब दें । हम तो बहुत शर्मिंदा हैं ।''

मातादीन ने कोतवाल से कहा, ''घबराओ मत । शुरु-शुरु में इस काम में आदमी को शर्म आती है । आगे तुम्हें बेकसूर को छोड़ने में शर्म आयेगी । हर चीज का जवाब है । अब आपके पास जो आये, उससे कह दो हम जानते हैं कि वह निर्दोष है । पर हम क्या करें ? यह सब ऊपर से हो रहा है ।''

कोतवाल ने कहा, ''तब वे एस.पी.के पास जायेंगे ।''

मातादीन ने कहा, ''एस.पी. भी कह दे कि ऊपर से हो रहा है ।''

''तब वे आई.जी. के पास शिकायत करेंगे ।''

''आई.जी. भी कहे कि सब ऊपर से हो रहा है ।''

''तब वे लोग पुलिस-मंत्री के पास पहुंचेंगे ।''

''पुलिस-मंत्री भी कहेंगे, ''भैया, मैं क्या करूं ? यह ऊपर से हो रहा है ।''

''तो वे प्रधानमंत्री के पास जायेंगे ।''

''प्रधानमंत्री भी कहें कि मैं जानता हूं, वह निर्दोष है । पर यह ऊपर से हो रहा है ।''

कोतवाल ने कहा, ''तब वे .....''

मातादीन ने कहा, ''तब क्या? तब वे किसके पास जायेंगे ? भगवान के पास न ? मगर भगवान से पूछकर कौन लौट सका है ?''

कोतवाल चुप रह गया । वह इस महान् प्रतिभा से चमत्कृत था ।

मातादीन ने कहा, ''एक मुहावरा–ऊपर से हो रहा है, हमारे देश में पचीस सालों से सरकारों को बचा रहा है । तुम इसे सीख लो ।''

केस की तैयारी होने लगी । मातादीन ने कहा, ''अब चार-छः चश्मदीद गवाह लाओ ।''

कोतवाल ने कहा, ''चश्मदीद गवाह कोई कैसे मिलेंगे ? जब किसी ने उसे मारते देखा ही नहीं तो चश्मदीद गवाह कोई कैसे होगा ?''

मातादीन ने सिर ठोक लिया, ''किन बेवकूफों के बीच फंसा दिया गवर्नमेंट ने। इन्हें तो ए.बी.सी.डी. भी नहीं आती ।''

झल्लाकर कहा, "चश्मदीद गवाह किसे कहते हैं, जानते हो ? चश्मदीद वह नहीं है, जो देखे—बल्कि वह जो कहे कि मैंने देखा ।"

कोतवाल ने कहा, "ऐसा कोई क्यों कहेगा ?"

मातादीन ने कहा, "कहेगा, समझ में नहीं आता कैसे डिपार्टमेंट चलाते हो ! अरे, चश्मदीद गवाहों की लिस्ट पुलिस के पास पहले से रहती है । जहां जरूरत हुई उन्हें चश्मदीद बना दिया । हमारे यहां ऐसे आदमी हैं जो साल में तीन-चार सौ वारदातों के चश्मदीद गवाह होते हैं । हमारी अदालतें भी मान लेती हैं कि इस आदमी में कोई दैवी शक्ति है, जिससे, वह जान लेता है कि अमुक जगह वारदात होने वाली है और वहां पहले से पहुंच जाता है । मैं तुम्हें, चश्मदीद गवाह बनाकर देता हूं । आठ-दस उठाईगीरों को बुलाओ जो चोरी, मारपीट, गुंडागर्दी करते हों। जुआ खिलाते हों या शराब उतारते हों ।"

दूसरे दिन शहर के आठ-दस नर-रत्न कोतवाली में हाजिर थे । उन्हें देखकर मातादीन गद्गद हो गये । बहुत दिन हो गये थे, ऐसे लोगों को देखे, बड़ा सूना-सूना लग रहा था । मातादीन का प्रेम उमड़ पड़ा । उसने कहा, "तुम लोगों ने उस आदमी को लाठी मारते देखा था न ?"

वे बोले, "नहीं देखा साब ! हम वहां थे ही नहीं ।"

मातादीन जानते थे, यह पहला मौका है । फिर उन्होंने कहा, "वहां नहीं थे, यह मैंने माना । पर लाठी मारते देखा तो था ।"

उन लोगों को लगा कि यह पागल आदमी है । तभी ऐसी ऊटपटांग बात करता है । वे हंसने लगे। मातादीन ने कहा, "हंसो मत, जवाब दो ।"

वे बोले, "जब थे ही नहीं, तो कैसे देखा ?"

मातादीन ने गुर्राकर देखा । कहा, "कैसे देखा, तो बताता हूं । तुम लोग जो काम करते हो, सब इधर दर्ज है । हर एक को कम-से-कम दस साल जेल में डाला जा सकता है । तुम ये काम आगे भी करना चाहते हो या जेल जाना चाहते हो ?"

वे घबराकर बोले, "साब , हम जेल नहीं जाना चाहते ।"

मातादीन ने कहा, "ठीक । तो तुमने उस आदमी को लाठी मारते देखा । देखा न !"

वे बोले, "देखा साब । वह आदमी घर से निकला और जो लाठी मारना शुरू किया, तो वह बेचारा बेहोश होकर सड़क पर गिर पड़ा ।"

मातादीन ने कहा, "ठीक है, आगे भी ऐसी वारदातें देखोगे ?"

वे बोले, "साब, जो आप कहेंगे, सो देखेंगे ।"

कोतवाल इस चमत्कार से थोड़ी देर तो बेहोश हो गया । होश आया तो मातादीन के चरणों पर गिर पड़ा ।

मातादीन ने कहा, "हटो, काम करने दो ।"

कोतवाल पावों से लिपट गया । कहने लगा, "मैं जीवन-भर इन श्री-चरणों में पड़ा रहना चाहता हूं ।"

मातादीन ने आगे की सारी कार्य प्रणाली तय कर दी । एफ.आई.आर. बदलना, बीच में पन्ने डालना, रोजनामचा बदलना, गवाहों को तोड़ना—सब सीखा दिया। उस आदमी को बीस साल की सजा हो गयी।

चांद की पुलिस शिक्षित हो चुकी थी । धड़ाधड़ केस बनने लगे और सजा होने लगी । चांद की सरकार बहुत खुश थी । पुलिस की ऐसी मुस्तैदी भारत सरकार के सहयोग का नतीजा था । चांद की संसद ने एक धन्यवाद का प्रस्ताव पास किया।

एक दिन मातादीन जी का सार्वजनिक अभिनंदन किया गया । वे फूलों से लदे खुली जीप पर बैठे थे । आसपास जय-जयकार करते हजारों लोग । वे हाथ जोड़कर अपने गृहमंत्री की स्टाइल में जवाब दे रहे थे ।

जिंदगी में पहली बार ऐसा कर रहे थे, इसलिए थोड़ा अटपटा लग रहा था। छब्बीस साल पहले पुलिस में भर्ती होते वक्त किसने सोचा था कि एक दिन दूसरे लोक में उनका ऐसा अभिनंदन होगा । वे पछताये—अच्छा होता कि इस मौके के लिए कुरता, टोपी और धोती ले आते ।

भारत के पुलिस-मंत्री टेलीविजन पर बैठे यह दृश्य देख रहे थे और सोच रहे थे, मेरी सद्भावना यात्रा के लिए वातावरण बन गया ।

एक दिन चांद की संसद का विशेष अधिवेशन बुलाया गया । बहुत तूफान खड़ा हुआ । गुप्त अधिवेशन था, इसलिए रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई पर संसद की दीवारों से टकराकर कुछ शब्द बाहर आये ।

"कोई बीमार बाप का इलाज नहीं करता ।"

"डूबते बच्चों को कोई नहीं बचाता ।"

"जलते मकान की आग कोई नहीं बुझाता ।"

"आदमी जानवर से बदतर हो गया । सरकार फौरन इस्तीफा दे ।"

दूसरे दिन चांद के प्रधानमंत्री ने मातादीन जी को बुलाया । मातादीन ने देखा–वे एकदम बूढ़े हो गये थे । लगा, वे कई रातें सोये नहीं हैं ।

रुआंसे होकर प्रधानमंत्री ने कहा, "मातादीन जी, हम आपके और भारत सरकार के बहुत आभारी हैं । अब आप कल देश वापस लौट जाइए ।"

मातादीन ने कहा, "मैं तो 'टर्म' खत्म करके ही जाऊंगा ।"

प्रधानमंत्री ने कहा, "आप बाकी 'टर्म' का वेतन ले जाइए–डबल ले जाइए, ट्रिबल ले जाइए ।"

मातादीन ने कहा, "हमारा सिद्धांत है । हमें पैसा नहीं काम प्यारा है ।"

आखिर चांद के प्रधानमंत्री ने भारत के प्रधानमंत्री को एक गुप्त पत्र लिखा। चौथे दिन मातादीन जी को वापस लौटने के लिए अपने आई.जी. का ऑर्डर मिल गया ।

उन्होंने एस.पी. साहब के घर के लिए एड़ी चमकाने का पत्थर यान में रखा और चांद से विदा हो गये ।

उन्हें जाते देख पुलिस वाले रो पड़े ।

बहुत अरसे तक यह रहस्य बना रहा कि आखिर चांद में ऐसा क्या हो गया कि मातादीन जी को इस तरह एकदम लौटना पड़ा । चांद के प्रधानमंत्री ने भारत के प्रधानमंत्री को क्या लिखा था ?

एक दिन वह पत्र खुल ही गया । उसमें लिखा था :

इंस्पेक्टर मातादीन की सेवाएं हमें प्रदान करने के लिए अनेक धन्यवाद । पर अब आप उन्हें फौरन बुला लें । हम भोले लोगों से विश्वासघात किया है । आपके मातादीन जी ने हमारी पुलिस को जैसा कर दिया है , उसके नतीजे ये हुए है:

कोई आदमी किसी मरते हुए आदमी के पास नहीं जाता, इस डर से कि वह कत्ल के मामले मे फंसा दिया जायेगा । बेटा बीमार बाप की सेवा नहीं करता। वह डरता, है, बाप मर गया तो उस पर कहीं हत्या का आरोप नहीं लगा दिया जाये । घर जलते रहते हैं और कोई बुझाने नहीं जाता–डरता है कि कहीं उस पर आग लगाने का जुर्म कायम न कर दिया जाये । बच्चे नदी मे डूबते रहते हैं और कोई उन्हें नहीं बचाता । इस डर से कि उस पर बच्चे को डुबाने का आरोप न लग जाये । सारे मानवीय संबंध समाप्त हो रहे हैं । मातादीन जी ने हमारी आधी संस्कृति नष्ट कर दी है । अगर वे यहां रहे तो पूरी संस्कृति नष्ट कर देंगे । उन्हें फौरन रामराज में बुला लिया जाये ।

वापसी

उषा प्रियंवदा

गजाधर बाबू ने कमरे में जमा सामान पर एक नजर दौड़ायी—दो बक्स, डोलची, बालटी— "यह डिब्बा कैसा है, गनेशी?" उन्होंने पूछा। गनेशी बिस्तर बाँधता हुआ, कुछ गर्व, कुछ दुःख, कुछ लज्जा से बोला, "घरवाली ने साथ को कुछ बेसन के लड्डू रख दिये हैं। कहा, बाबूजी को पसन्द थे, अब कहाँ हम गरीब लोग आपकी कुछ खातिर कर पायेंगे!" घर जाने की खुशी में भी गजाधर बाबू ने एक विषाद का अनुभव किया, जैसे एक परिचित, स्नेह, आदरमय, सहज संसार से उनका नाता टूट रहा था।

"कभी-कभी हम लोगों की भी खबर लेते रहिएगा।" गनेशी बिस्तर में रस्सी बाँधता हुआ बोला।

"कभी कुछ जरुरत हो तो लिखना गनेशी! इस अगहन तक बिटिया की शादी कर दो।"

गनेशी ने अँगोछे के छोर से आँखें पोंछी, "अब आप लोग सहारा न देगें, तो कौन देगा! आप यहाँ रहते तो शादी में कुछ हौसला रहता।"

गजाधर बाबू चलने को तैयार बैठे थे। रेलवे क्वार्टर का वह कमरा, जिसमें उन्होंने कितने वर्ष बिताये थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और भद्दा लग रहा था। आँगन में रोपे पौधे भी जान-पहचान के लोग ले गये थे, वहाँ जगह-जगह मिट्टी बिखरी हुई थी। पर पत्नी, बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह बिछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठकर बिलीन हो गया।

गजाधर बाबू खुश थे, बहुत खुश। पैंतीस साल की नौकरी के बाद वह रिटायर होकर जा रहे थे। इन वर्षों में अधिकांश समय उन्होंने अकेले रहकर काटा था। उन अकेले क्षणों में उन्होंने इसी समय की कल्पना की थी, जब वह अपने परिवार के साथ रह सकेंगे। इसी आशा के सहारे वह अपने अभाव का बोझ ढो रहे थे। संसार की दृष्टि में उनका जीवन सफल कहा जा सकता था। उन्होंने शहर में एक मकान बनवा लिया था, बड़े लड़के अमर और लड़की कान्ति की शादियाँ कर दी थी, दो बच्चे ऊँची कक्षाओं में पढ़ रहे थे। गजाधर बाबू नौकरी के कारण प्रायः छोटे स्टेशनों पर रहे और उनके बच्चे और पत्नी शहर में, जिससे पढ़ाई में बाधा न हो। गजाधर बाबू स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति थे और स्नेह के आकांक्षी भी। जब परिवार साथ

था, ड्यूटी से लौटकर बच्चों से हँसते-बोलते, पत्नी से कुछ मनोविनोद करते–उन सबके चले जाने से उनके जीवन में गहन सूनापन भर उठता। खाली क्षणों में उनसे घर में टिका न जाता। कवि-प्रकृति के न होने पर भी उन्हें पत्नी की स्नेहपूर्ण बातें याद आती रहतीं। दोपहर में गर्मी होने पर भी, दो बजे तक आग जलाये रहती और उनके स्टेशन से वापस आने पर गरम-गरम रोटियाँ सेंकती–उनके खा चुकने और मना करने पर भी थोड़ा-सा कुछ और थाली में परोस देती, और बड़े प्यार से आग्रह करती। जब वह थके-हारे बाहर से आते, तो उनकी आहट पा वह रसोई के द्वार पर निकल आती और उसकी सलज्ज आँखें मुस्करा उठतीं। गजाधर बाबू को तब हर छोटी बात याद आती और वह उदास हो उठते...अब कितने वर्षों बाद वह अवसर आया था, जब वह फिर उसी स्नेह और आदर के मध्य रहने जा रहे थे।

टोपी उतारकर गजाधर बाबू ने चारपाई पर रख दी, जूते खोलकर नीचे खिसका दिये, अन्दर से रह-रहकर कहकहों की आवाज आ रही थी। इतवार का दिन था और उनके सब बच्चे इकट्ठे होकर नाश्ता कर रहे थे। गजाधर बाबू के सूखे चेहरे पर स्निग्ध मुस्कान आ गयी उसी तरह मुस्कराते हुए वह बिना खांसे अन्दर चले आये। उन्होंने देखा कि नरेन्द्र कमर पर हाथ रखे शायद गत रात्रि की फिल्म में देखे गये किसी नृत्य की नकल कर रहा था और बसन्ती हंस-हंसकर दुहरी हो रही थी। अमर की बहू को अपने तन-बदन, आंचल या घूँघट का कोई होश न था और वह उन्मुक्त रूप से हँस रही थी। गजाधर बाबू को देखते ही नरेन्द्र धप-से बैठ गया और चाय का प्याला मुँह से लगा लिया। बहू को होश आया और उसने झट माथा ढंक लिया, केवल बसन्ती का शरीर रह-रहकर हँसी दबाने के प्रयत्न में हिलता रहा।

गजाधर बाबू ने मुस्कराते हुए उन लोगों को देखा। फिर कहा, "क्यों नरेन्द्र, क्या नकल हो रही थी?" – "कुछ नहीं बाबूजी!" नरेन्द्र ने सिटपिटाकर कहा। गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी इस मनोविनोद में भाग लेते, पर उनके आते ही जैसे सब कुण्ठित हो चुप हो गये, उससे उनके मन में थोड़ी-सी खिन्नता उपज आयी। बैठते हुए बोले, "बसन्ती, चाय मुझे भी देना। तुम्हारी अम्माँ की पूजा अभी चल रही है क्या?"

बसन्ती ने माँ की कोठरी की ओर देखा, "अभी आती ही होंगी," और प्याले में उनके लिए चाय छानने लगी। बहू चुपचाप पहले ही चली गयी थी, अब नरेन्द्र भी चाय का आखिरी घूंट पीकर उठ खड़ा हुआ। केवल बसन्ती, पिता के लिहाज में, चौके में बैठी माँ की राह देखने लगी। गजाधर बाबू ने एक घूंट चाय पी ली,

फिर कहा, "बिट्टी, चाय तो फीकी है।"

"लाइए, चीनी और डाल दूँ।" बसन्ती बोली।

"रहने दो, तुम्हारी अम्मा जब आयेगी, तभी पी लूँगा।"

थोड़ी देर में उनकी पत्नी हाथ के अर्घ्य का लोटा लिये निकली और अशुद्ध स्तुति कहते हुए तुलसी में डाल दिया। उन्हें देखते ही बसन्ती भी उठ गयी। पत्नी ने आकर गजाधर बाबू को देखा और कहा, "अरे, आप अकेले बैठे हैं– ये सब कहाँ गये?" गजाधर बाबू के मन में फाँस-सी करक उठी, "अपने-अपने काम में लग गये हैं–आखिर बच्चे ही हैं।"

पत्नी आकर चौके में बैठ गयी; उन्होंने नाक-भौं चढ़ाकर चारों ओर जूठे बर्तनों को देखा । फिर कहा, "सारे जूठे बर्तन पड़े हैं। इस घर में धरम-करम कुछ नहीं। पूजा करके सीधे चौके में घुसो।" फिर उन्होंने नौकर को पुकारा, जब उत्तर न मिला तो एक बार और उच्च स्वर में, फिर पति की ओर देखकर बोलीं, "बहू ने भेजा होगा बाजार।" और एक लम्बी साँस लेकर चुप हो रहीं।

गजाधर बाबू बैठकर चाय और नाश्ते का इन्तजार करते रहे। उन्हें अचानक ही गनेशी की याद आ गयी। रोज सुबह, पैसेंजर आने से पहले वह गरम-गरम पुरियाँ और जलेबी बनाता था। गजाधर बाबू जब तक उठकर तैयार होते, उनके लिए जलेबियाँ और चाय लाकर रख देता था। चाय भी कितनी बढ़िया, काँच के गिलास में ऊपर तक भरी लबालब, पूरे ढाई चम्मच चीनी और गाढ़ी मलाई। पैसेंजर भले ही रानीपुर लेट पहुँचे, गनेशी ने चाय पहुँचाने में देर नहीं की। क्या मजाल कि कभी उससे कुछ कहना पड़े!

पत्नी का शिकायत-भरा स्वर सुन उनके विचारों में व्याघात पहुँचा। वह कह रही थीं, "सारा दिन इसी खिच-खिच में निकल जाता है। इस गृहस्थी का धन्धा पीटते-पीटते उमर बीत गयी। कोई जरा हाथ भी नहीं बँटाता।"

"बहू क्या करती है?" गजाधर बाबू ने पूछा।

"पड़ी रहती है। बसन्ती को तो, फिर कहो कि कॉलेज जाना होता है"।

गजाधर बाबू ने जोश में आकर बसन्ती को अवाज दी। बसन्ती भाभी के कमरे से निकली तो गजाधर बाबू ने कहा, "बसन्ती, आज से शाम का खाना बनाने की जिम्मेदारी तुम पर है। सुबह का भोजन तुम्हारी भाभी बनायेगी।"

वसन्ती मुँह लटकाकर बोली, "बाबूजी, पढ़ना भी तो होता है।"

गजाधर बाबू ने प्यार से समझाया, "तुम सुबह पढ़ लिया करो। तुम्हारी माँ बूढ़ी हुई, उनके शरीर में अब वह शक्ति नहीं बची है। तुम हो, तुम्हारी भाभी हैं, दोनों को मिलकर काम में हाथ बंटाना चाहिए।"

वसन्ती चुप रह गयी। उसके जाने के बाद उसकी मां ने धीरे से कहा, "पढ़ने का तो बहाना है। कभी जी ही नहीं लगता, लगे कैसे? शीला से ही फुरसत नहीं, बड़े-बड़े लड़के हैं उस घर में, हर वक्त वहां घुसा रहना मुझे नहीं सुहाता। मना करूं तो सुनती नहीं।"

नाश्ता कर गजाधर बाबू बैठक में चले गये। घर छोटा था और ऐसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबन्ध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गयी थी। गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े, कभी-कभी अनायास ही, इस अस्थायित्व का अनुभव करने लगते। उन्हें याद हो आती उन रेलगाड़ियों की, जो आतीं और थोड़ी देर रुककर किसी और लक्ष्य की ओर चली जातीं।

घर छोटा होने के कारण बैठक में ही अब अपना प्रबन्ध किया था। उनकी पत्नी के पास अन्दर एक छोटा कमरा अवश्य था, पर वह एक ओर अचारों के मर्तबान, दाल, चावल के कनस्तर और घी के डिब्बों से घिरा था; दूसरी ओर पुरानी रजाइयां, दरियों में लिपटी और रस्सी से बँधी रखी थी; उसके पास एक बड़े-से टीन के बक्स में घर-भर के गरम कपड़े थे। बीच में एक अलगनी बँधी हुई थी, जिस पर प्रायः, बसन्ती के कपड़े लापरवाही से पड़े रहते थे। वह भरसक उस कमरे में नहीं जाते थे। घर का दूसरा कमरा अमर और उसकी बहू के पास था, तीसरा कमरा, जो सामने की ओर था, बैठक था। गजाधर बाबू के आने से पहले उसमें अमर की ससुराल से आया बेंत की तीन कुर्सियों का सेट पड़ा था, कुर्सियों पर नीली गद्दियाँ और बहू के हाथों के कढ़े कुशन थे।

जब कभी उनकी पत्नी को कोई लम्बी शिकायत करनी होती, तो अपनी चटाई बैठक में डाल पड़ जाती थीं। वह एक दिन चटाई लेकर आ गयीं। गजाधर बाबू ने घर-गृहस्थी की बातें छेड़ीं, वह घर का रवैया देख रहे थे। बहुत हल्के-से उन्होंने कहा कि अब हाथ में पैसा कम रहेगा, कुछ खर्च कम होना चाहिए।

"सभी खर्च तो वाजिब-वाजिब हैं, किसका पेट काटूँ? यही जोड़गांठ करते-करते

बूढ़ी हो गयी, न मन का पहना, न ओढ़ा।''

गजाधर बाबू ने आहत, विस्मित दृष्टि से पत्नी को देखा। उनसे अपनी हैसियत छिपी न थी। उनकी पत्नी तंगी का अनुभव कर उसका उल्लेख करतीं, यह स्वाभाविक था, लेकिन उनमें सहानुभूति का पूर्ण अभाव गजाधर बाबू को बहुत खटका। उनसे यदि राय-बात की जाती कि प्रबन्ध कैसे, हो तो उन्हें चिन्ता कम, सन्तोष अधिक होता। लेकिन उनसे तो केवल शिकायत की जाती थी, जैसे परिवार की सब परेशानियों के लिए वही जिम्मेदार थे।

''तुम्हें किस बात की कमी है अमर की माँ– घर में बहू है, लड़के बच्चे हैं, सिर्फ रुपये से ही आदमी अमीर नहीं होता।'' गजाधर बाबू ने कहा और कहने के साथ ही अनुमान किया। यह उनकी आन्तरिक अभिव्यक्ति थी- ऐसी कि उनकी पत्नी नहीं समझ सकती। ''हां, बड़ा सुख है न बहू से। आज रसोई करने गयी हैं, देखो क्या होता है?'' कहकर पत्नी ने आँखें मुँदीं और खो गयीं। गजाधर बाबू बैठे हुए पत्नी को देखते रह गये। यही थी क्या उनकी पत्नी, जिसके हाथों के कोमल स्पर्श, जिसकी मुस्कान की याद में उन्होंने सम्पूर्ण जीवन काट दिया था? उन्हें लगा कि वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गयी और उसकी जगह आज जो स्त्री है, वह उनके मन और प्राणों के लिए नितान्त अपरिचित है। गाढ़ी नींद में डूबी उनकी पत्नी का भारी-सा शरीर बहुत बेडौल और कुरूप लग रहा था, चेहरा श्रीहीन और रुखा था। गजाधर बाबू देर तक निस्संग दृष्टि से पत्नी को देखते रहे और फिर लेटकर छत की ओर ताकने लगे।

अन्दर कुछ गिरा और उनकी पत्नी हड़बड़ाकर उठ बैठी, ''लो, बिल्ली ने कुछ गिरा दिया शायद,'' और वह अन्दर भागी। थोड़ी देर में लौटकर आयी तो उनका मुँह फूला–फूला हुआ था, ''देखा बहू को, चौका खुला छोड़ आयी, बिल्ली ने दाल की पतीली गिरा दी। सभी तो खाने को हैं, अब क्या खिलाऊँगी?'' वहां साँस लेने को रुकीं और बोलीं, ''एक तरकारी और चार पराठे बनाने में सारा डिब्बा घी उडेलकर रख दिया। जरा-सा दर्द नहीं है, कमानेवाला हाड़ तोड़े और यहाँ चीजें लूटें । मुझे तो मालूम था कि यह सब काम किसी के बस का नहीं है।''

गजाधर बाबू को लगा कि पत्नी कुछ और बोलेगी तो उनके कान झनझना उठेंगे। ओंठ भींच, करवट लेकर उन्होंने पत्नी की ओर पीठ करली रात का भोजन बसन्ती ने जान-बूझकर ऐसा बनाया था कि कौर तक निगला न जा सके। गजाधर बाबू चुपचाप खाकर उठ गये, पर नरेन्द्र थाली सरकाकर उठ खड़ा हुआ और बोला, ''मैं

ऐसा खाना नहीं खा सकता।''

बसन्ती तुनककर बोली, ''तो न खाओ, कौन तुम्हारी खुशामद करता है।''

''तुमसे खाना बनाने को कहा किसने था?'' नरेन्द्र चिल्लाया।

''बाबूजी ने।''

''बाबूजी को बैठे-बैठे यही सूझता है।''

बसन्ती को उठाकर माँ ने नरेन्द्र को मनाया और अपने हाथ से कुछ बनाकर खिलाया। गजाधर बाबू ने बाद में पत्नी से कहा, ''इतनी बड़ी लड़की हो गयी और उसे खाना बनाने तक का शऊर नहीं आया!''

''अरे आता सब कुछ है, करना नहीं चाहती।'' पत्नी ने उत्तर दिया।

अगली शाम माँ को रसोई में देख, कपड़े बदलकर बसन्ती बाहर आयी, तो बैठक में गजाधर बाबू ने टोक दिया, ''कहाँ जा रही हो?''

''पड़ोस में, शीला के घर।'' बसन्ती ने कहा।

''कोई जरुरत नहीं है, अन्दर जाकर पढ़ो'' गजाधर बाबू ने कड़े स्वर में कहा। कुछ देर अनिश्चित खड़े रहकर बसन्ती अन्दर चली गयी। गजाधर बाबू शाम को रोज टहलने चले जाते, लौटकर आये तो पत्नी ने कहा, ''क्या कह दिया बसन्ती से? शाम से मुँह लपेटे पड़ी है। खाना भी नहीं खाया।''

गजाधर बाबू खिन्न हो आये। पत्नी की बात का उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि बसन्ती की शादी जल्द ही कर देनी है। उस दिन के बाद बसन्ती पिता से बची-बची रहने लगी। जाना होता तो पिछवाड़े से जाती। गजाधर बाबू ने दो-एक बार पत्नी से पूछा तो उत्तर मिला, ''रूठी हुई है।'' गजाधर बाबू को और रोष हुआ। लड़की के इतने मिजाज, जाने को रोक दिया तो पिता से बोलेगी नहीं! फिर उनकी पत्नी ने ही सूचना दी कि अमर अलग रहने की सोच रहा है।

''क्यों?'' गजाधर बाबू ने चकित होकर पूछा।

पत्नी ने साफ-साफ उत्तर नहीं दिया। अमर और उसकी बहू की शिकायतें बहुत थी। उनका कहना था कि गजाधर बाबू हमेशा बैठक में ही पड़े रहते हैं, कोई आने-जाने वाला हो तो कहीं बिठाने की जगह नहीं। अमर को अब भी छोटा-सा समझते थे और मौके-बेमौके टोक देते हैं। बहू को काम करना पड़ता था और सास जय-तब फुहड़पन पर ताने देती रहती थी। '' हमारे आने के पहले भी कभी ऐसी बात

हुई थी?'' गजाधर बाबू ने पूछा। पत्नी ने सिर हिलाकर जताया कि नहीं। पहले अमर घर का मालिक बनकर रहता था, बहू को कोई रोक-टोक न थी, अमर के दोस्तों का प्राय: यहीं अड्डा जमा रहता था और अन्दर से नाश्ता-चाय तैयार होकर जाता रहता था। बसन्ती को भी वही अच्छा लगता था।

गजाधर बाबू ने बहुत धीरे से कहा, ''अमर से कहो, जल्दबाजी की कोई जरूरत नहीं है।''

अगले दिन वह सुबह घूमकर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं है। अन्दर आकर पूछने ही वाले थे कि उनकी दृष्टि रसोई के अन्दर बैठी पत्नी पर पड़ी। उन्होंने कहने को मुँह खोला कि बहू कहाँ है, पर कुछ याद कर चुप हो गये। पत्नी की कोठरी में झाँका तो अचार, रजाइयों और कनस्तरों के मध्य अपनी चारपाई लगी पायी। गजाधर बाबू ने कोट उतारा और कहीं टाँगने को दीवार पर नजर दौड़ायी। फिर उसे मोड़कर अलगनी के कुछ कपड़े खिसकाकर, एक किनारे टाँग दिया। कुछ खाये बिना ही अपनी चारपाई पर लेट गये। कुछ भी हो, तन आखिरकार बूढ़ा ही था। सुबह शाम कुछ दूर टहलने अवश्य चले जाते, पर आते-जाते थक उठते थे। गजाधर बाबू को अपना बड़ा-सा, खुला हुआ क्वार्टर याद आ गया। निश्चित जीवन, सुबह पैसेंजर ट्रेन आने पर स्टेशन की चहल-पहल, चिरपरिचित चेहरे और पटरी पर रेल के पहियों की खट्-खट्, जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह थी। तूफान और डाक गाड़ी के इंजनों की चिंघाड़ उनकी अकेली रातों की साथी थी। सेठ रामजीमल के मिल के कुछ लोग कभी-कभी पास आ बैठते, वही उनका दायरा था, वही उनके साथी। वह जीवन अब उन्हें एक खोयी निधि सा प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कि वह जिन्दगी द्वारा ठगे गये हैं। उन्होनें जो कुछ चाहा, उसमें से उन्हें एक बूंद भी न मिली।

लेटे हुए वह घर के अन्दर से आते विविध स्वरों को सुनते रहे। बहू और सास की छोटी-सी झड़प, बालटी पर खुले नल की आवाज, रसोई के बर्तनों की खटपट और उसी में दो गोरैयों का वार्तालाप-और अचानक ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब घर की किसी बात में दखल न देगें। यदि गृहस्वामी के लिए पूरे घर में एक चारपाई की जगह नहीं है, तो यहीं पड़े रहेंगे। अगर कहीं और डाल दी गयी तो वहाँ चले जायेंगे। यदि बच्चों के जीवन में उनके लिए कहीं स्थान नही, तो अपने ही घर में परदेशी की तरह रहेंगे..... और उस दिन के बाद सचमुच गजाधर बाबू कुछ नहीं बोले। नरेन्द्र माँगने आया तो बिना कारण पूछे ही उसे रुपये दे दिये-बसन्ती काफी अँधेरा हो जाने के बाद भी पड़ोस में रही तो भी उन्होंने कुछ नहीं

कहा- पर उन्हें सबसे बड़ा गम यह था कि उनकी पत्नी ने भी उनमें कुछ परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया। वह मन-ही-मन कितना भार ढो रहे हैं, इससे वह अनजान ही बनी रहीं। बल्कि उन्हें पति के घर के मामले में हस्तक्षेप न करने के कारण शान्ति ही थी। कभी-कभी कह भी उठती, "ठीक ही है। आप बीच में न पड़ा कीजिए, बच्चे बड़े हो गये हैं, हमारा जो कर्तव्य था,। कर रहे हैं, पढ़ा रहे हैं। शादी कर देंगे।"

गजाधर बाबू ने आहत दृष्टि से पत्नी को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि वह पत्नी व बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित्त मात्र हैं। जिस व्यक्ति के अस्तित्व से पत्नी माँग में सिन्दुर डालने को अधिकारी है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, उनके सामने वह दो वक्त भोजन की थाली रख देने से सारे कर्तव्यों से छुट्टी पा जाती है। वह घी और चीनी के डिब्बों में इतनी रमी हुई हैं कि अब वही उनकी सम्पूर्ण दुनिया बन गयी है। गजाधर बाबू उनके जीवन के केन्द्र नहीं हो सकते, उन्हें तो अब बेटी की शादी के लिए भी उत्साह बुझ गया। किसी बात में हस्तक्षेप न करने के निश्चय के बाद भी उनका अस्तित्व उस वातावरण का एक भाग न बन सका। उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगने लगी थी, जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी। उनकी सारी खुशी एक गहरी उदासीनता में डूब गयी।

इतने सब निश्चयों के बावजूद गजाधर बाबू एक दिन बीच में दखल दे बैठे। पत्नी स्वभावानुसार नौकर की शिकायत कर रही थी, "कितना कामचोर है, बाजार की हर चीज में पैसा बनाता है। खाने बैठता है तो खाता ही चला जाता है ।" गजाधर बाबू को बराबर यह महसूस होता रहता था कि उनके घर का रहन-सहन और खर्च उनकी हैसियत से कहीं ज्यादा है। पत्नी की बात सुनकर लगा कि नौकर का खर्च बिल्कुल बेकार है। छोटा-मोटा काम है घर में तीन मर्द हैं, कोई-न-कोई कर ही देगा। उन्होंने उसी दिन नौकर का हिसाब कर दिया। अमर दफ्तर से आया तो नौकर को पुकारने लगा। अमर की बहू बोली, "बाबूजी ने नौकर छुड़ा दिया है।"

"क्यों?"

"कहते हैं, खर्च बहुत है।"

यह वार्तालाप बहुत सीधा-सा था, पर जिस टोन में वह बोली, गजाधर बाबू को खटक गया। उस दिन जी भारी होने के कारण गजाधर बाबू टहलने नहीं गये थे। आलस्य में उठकर बत्ती भी नहीं जलायी-इस बात से बेखबर नरेन्द्र माँ से कहने लगा, "अम्माँ, तुम बाबूजी से कहतीं क्यों नहीं? बैठे-बिठाये कुछ नहीं तो नौकर ही छुड़ा दिया। अगर बाबूजी यह समझें कि मैं साइकिल पर गेहूँ रख आटा पिसाने जाऊँगा, तो मुझसे यह नहीं होगा।" – "हाँ अम्माँ," बसन्ती का स्वर था, "मैं

कॉलिज भी जाऊँ और लौटकर घर में झाड़ू भी लगाऊँ, यह मेरे बस की बात नहीं है ।

"बूढ़े आदमी हैं", अमर भुनभुनाया, "चुपचाप पड़े रहें। हर चीज में दखल क्यों देते हैं?" पत्नी ने बड़े व्यंग्य से कहा, "और कुछ नहीं सूझा, तो तुम्हारी बहू को चौके में भेज दिया। वह गयी तो पन्द्रह दिन का राशन पाँच दिन में बनाकर रख दिया।" बहू कुछ कहे, इससे पहले वह चौके में घुस गयीं। कुछ देर में अपनी कोठरी में आयीं और बिजली जलाया तो गजाधर बाबू को लेटे देख बड़ी सिटपिटायीं। गजाधर बाबू की मुख-मुद्रा से वह उनके भावों का अनुमान न लगा सकीं। वह चुप, आँखें बन्द किये लेटे रहे।

गजाधर बाबू चिट्ठी हाथ में लिये अन्दर आये और पत्नी को पुकारा। वह भीगे हाथ लिये निकलीं और आँचल से पोंछती हुई पास आ खड़ी हुईं। गजाधर बाबू ने बिना किसी भूमिका के कहा, "मुझे सेठ रामजीमल की चीनी मिल में नौकरी मिल गयी है। खाली बैठे रहने से तो चार पैसे घर में आयें, वही अच्छा है। उन्होंने तो पहले ही कहा था, मैंने ही मना कर दिया था।" फिर कुछ रुककर, जैसे बुझी हुई आग में एक चिनगारी चमक उठी, उन्होंने धीमे स्वर में कहा, "मैंने सोचा था कि बरसों तुम सबसे अलग रहने के बाद अवकाश पाकर परिवार के साथ रहूँगा। खैर, परसों जाना है। तुम भी चलोगी?"

"मैं?" पत्नी ने सकपकाकर कहा, "मैं चलूंगी तो यहाँ का क्या होगा? इतनी बड़ी गृहस्थी, फिर सयानी लड़की.... "

बात बीच में काट गजाधर बाबू ने हताश स्वर में कहा, "ठीक है, तुम यहीं रहो। मैंने तो ऐसे ही कहा था।" और गहरे मौन में डूब गये।

नरेन्द्र ने बड़ी तत्परता से बिस्तर बाँधा और रिक्शा बुला लाया। गजाधर बाबू का टीन का बक्स और पतला-सा बिस्तर उस पर रख दिया गया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिये गजाधर बाबू रिक्शा पर बैठ गये। दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली। फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा। उनके जाने के बाद सब अन्दर लौट आये, बहू ने अमर से पूछा, "सिनेमा ले चलियेगा न? बसन्ती ने उछलकर कहा, "भइया, हमें भी।"

गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गयीं। बची हुई मठरियों को कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लायीं और कनस्तरों के पास रख दिया, फिर बाहर आकर कहा, "अरे नरेन्द्र, बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।"

बर्डे

स्वयं प्रकाश

बड़ी मुश्किल से फुर्सत निकालकर श्रीमती बैजल ड्रेसिंग टेबल के सामने बैठ पायी हैं। उन्होंने सुबह मेकअप किया था, और अब तीसरा पहर है। इस बीच एक बार भी आईने के सामने नहीं बैठ पायीं। कोई और दिन होता तो बेस-फाउण्डेशन-फिनिश-टच की यह चिर प्रिय क्रिया कम से कम चार बार हो चुकी होती। आज स्वीटू का बर्ड है और उनके शब्दों में वे सुबह से 'बैल की तरह' खटती रही हैं।

देह कुछ स्थूल हो चली है। पहले उस पर कसे वस्त्रों को वस्त्रों की शक्ति की सीमा तक कसेंगी बार-बार। बाल झर रहे हैं पर उन्हें सुलझाकर फिर उलझाकर फिर सेट करके फिक्स कर देने से चल जाता है। नहीं तो स्विच लगा लेती हैं। चेहरा-मोहरा सुन्दर है। ईयरिंग चेंज करने पड़ेंगे। कौन से पहनेंगी, अभी तय नहीं हुआ। वह साड़ी तय होने के बाद तय होगा। और यहीं आईने के सामने ही तय होगा। मेक्सफेक्टर भी क्या रद्दी चीजें बनाने लगे हैं आजकल। पहले कस्टम वाले गुप्ताजी कितनी अच्छी इम्पोर्टेड कॉस्मेटिक्स ला देते थे!

अचानक ध्यान आया, कस्टर्ड के लिए दूध का भगोना गैस पर ही छोड़ आयी हैं । सीता को तो कुछ पता नहीं चलेगा और दूध जल जाएगा । केक पर आइसिंग भी अभी तक नहीं हुई है । भँवरसिंह को स्ट्रॉ और पेपर नेपकिन के लिए भेजा था... पर्ची पर लिखकर दिया था ... पर अभी तक लौटा नहीं है। पता नहीं इस गाँवड़े में कोई दूकानदार पर्ची का आशय समझेगा भी या नहीं । कहीं फुटपाथ पर बिकने वाले छींट के रूमाल न उठा लाये । कुछ नहीं कहा जा सकता।

उठीं । सीता को आवाज दी–'भगोना उतार दे।' फिर बैठ गयीं । साड़ी बनारसी वाली ठीक रहेगी। पर इस मौसम में डार्क कलर? इससे तो कांजीवरम वाली ही ठीक है...लेकिन ड्राइंगरूम के कार्पेट और कुशन के साथ बेहूदा लगेगी, और आजकल वैसे ही लेडीज़ की जरा-जरा-सी बात पर क्रिटिसाइज करने की आदत है...और वे नहीं चाहतीं कि कोई उन्हीं के यहाँ आकर उनकी इंसल्ट कर जाये ।

अचानक ध्यान आया कि गुब्बारों में हवा भंवरसिंह ही भरेगा। और भरेगा तब जब आयेगा । और आयेगा तब जब उसे स्ट्रॉ और नेपकिन मिल जायेंगे या नहीं मिलेंगे । क्या मुसीबत है । एक ही नौकर, और वह भी चपरासी । न सुने, न समझे । न गाँठे । जरा-सा कुछ कह दो तो मुँह फुलाकर चल दे । और एक

वो...इसकी पटरानी सीता ! कहो खेत की सुने खलिहान की । कहाँ हरिद्वार सुने फर्रुखाबाद । कोई काम उसके भरोसे छोड़ा नहीं जा सकता । एक दिन सब्जी बनवा लो, इतनी मिर्च झोंक देगी कि उसे खाओ या रो लो । चाय तक ठीक से नहीं बना सकती। कभी इतनी फीकी बानाएगी कि लगे, कब्ज से निबटने के लिए कुछ पी रहे हैं, और कभी इतनी मीठी कर देगी कि पीने के बाद मुँह में ब्रुश घुसेड़कर चिपके हुए होठों को खोलना पड़े । खाने को ढेर चाहिए... नहीं, खाओ जी भर के । उनकी ऐसी आदत नहीं जो किसी की खुराक पर नुक्ताचीनी करें... पर मरे, काम के दिन ज़रा ज़्यादा ही सताते हैं ।

उन्हें लगा, यहाँ कोई ब्यूटी पार्लर होता तो कितना अच्छा होता ! चैन से जाकर पसर जातीं । नेल्स...हेयर डू..आइब्रो...सब हो जाती । ... यहाँ तो मरी वेक्सिंग तक हाथ से करनी पड़ती है । खैर,अब अगर प्योर सिल्क की साड़ी ही पहननी हैं तो नेलपॉलिश तो उसी शेड की लगा ही लें। उठायी...खोली...फिर सोचा...सर्व कौन करेगा? और इतनी चिल्लर-पिल्लर सम्हालेगा कौन? सुधीर तो कुछ करेंगे नहीं, उन्हें ही करना पड़ेगा। कोई इधर से खींचेगा कोई उधर से, साड़ी का सत्यानाश हो जाएगा...चाशनी के हाथ तो ज़रूर लगेंगे । चलो, ऑरगंडी की ही पहन लेते हैं...जो बम्बई से लाये थे...बस, झंझट खत्म । सेट...सेण्डल...लिपस्टिक...चूड़ियां...सब हैं उसके साथ की । लेकिन ब्लाउज ? क्या वह छोटा तो नहीं हो गया होगा ? क्या अब उसे खोलकर ठीक करने का वक्त है ?

श्रीमती बैजल रुँआसी हो गयीं ।

उन्हें लगा, उनकी किस्मत ही ख़राब है । वरना क्यों सुधीर एन्फोर्समेण्ट इंस्पेक्टर की इतनी बढ़िया नौकरी छोड़कर लेकचररशिप में आते । अच्छे-ख़ासे शहर में थे । ठाठदार मकान था । नौकर-चाकर थे। गिफ़्ट देनेवालों की लाइन लगी रहती थी । किसी को भी फोन कर दो; गाड़ी आ जाती थी । इतने सिनेमा हॉल थे, कभी याद नहीं आता कि कहीं टिकट लेना पड़ा हो । सुधीर बताते नहीं...उन्हें तो अब भी शक़ है कि चिरंजीलाल बद्रीप्रसाद वाले केस में सुधीर फँस गये:थे । फंस ही गये होंगे ...वरना इतनी अच्छी नौकरी छोड़कर ये फटीचरी करने कौन आता ?

सुधीर की यही बात उन्हें पसन्द नहीं है । एक दिन की छुट्टी नहीं ले सकते। इन्विजिलेशन ड्यूटी है तो क्या...सिक भी तो किया जा सकता है । उसमें मिलता ही क्या है? पर नहीं । अब आयेंगे ऐन चार बजे । मरती रहें श्रीमती बैजल अकेली। जैसे स्वीटू सिर्फ़ उनका बेटा हो । और उसे भी छुट्टी नहीं लेने दी । जैसे बर्ड साल

में दस-बीस बार आता हो! बच्चा है। एक दिन नहीं जाता स्कूल तो क्या बिगड़ जाता?

हर बर्ड को ऐसा ही होता है। यह स्वीटू की पाँचवीं बर्ड है । स्कूल जाने लगा है। पिछली बार तो दिन भर उसे हल्का बुखार भी था। छींक रहा था। उसे भी सम्हालती जातीं और खटती भी जातीं। हालाँकि मदद के लिए चार आदमी थे, पर आदमियों से काम लेना क्या कम मुसीबत है? और फिर छोटी जात के आदमी। जरा नजर फेरो कि चीनी ही फाँक लें। मलाई ही चाट लें। बीड़ी पीने ही बैठ जायें। गंदे-संदे हाथ इस-उसमें लगा दें। सारी बातों का ध्यान रखना पड़ता है। खूब थकीं श्रीमती बैजल उस दिन, और थकने के बाद झुँझलाहट भी स्वाभाविक है। पर मजाल है कोई नुक्स निकाल सका हो कोई! कितने बड़े-बड़े घरों के लोग आये थे। सबकी जबान पर एक ही बात थी–कमाल कर दिया मिसेज बैजल! कितना राहत मिलती है काम सफल होने पर! सारी मेहनत सकारथ हो जाती है।

कल्पनालोक में खो गयीं श्रीमती बैजल। मधुर यादों में। पार्टी खत्म हो चुकी है। सारे मेहमान उनके खाने और उनके इंतजाम की तारीफ करते हुए जा चुके हैं। बिखरे हुए ड्राइंगरूम में.... गुब्बारों के टुकड़ों में... पिचकी हुई टोपियों में... इधर-उधर पड़ी रह गयी मिठाई की किसी अधखायी प्लेट में...फूलों की कुचली हुई पंखुड़ियोंमें... हर चीज में बच्चों की मोहकता का अलस बिंब सुगंधित है। और वह मीठी-मीठी थकन और तृप्ति में डूबी... उपहारों का एक एक पैकेट खोलकर देख रही हैं.... अच्छा! तो आहूजा साहब ने बैट्रीवाली ट्रेन दी है! ... और यह लाल पैकेट किसका है? भार्गवाजी का? क्या है? हाय! कित्ता प्यारा सूटपीस है। स्वीटू पर खूब फबेगा। और ये शेख साहब इतना भारी क्या उठा लाये? जापान का स्लाइड प्रोजेक्टर? ग़जब करते हैं। और जरा वह बैगनीवाला पैकिंग तो देखें... देखिए..क्या खूबसूरत एलबम है... यह भी इम्पोर्टेड है लूथराज़ सचमुच बहुत फॉर्मेलिटीज करते हैं...लीजिए जितना ख़र्च हुआ इससे चार गुना तो वसूल हो गया।

यही बात है। यही बात है जो हर साल महिलाओं को बच्चों की वर्षगाँठ मनाने के लिए उत्साहित कर देती है। थकेंगी, खटेंगी, झुँझला लेंगी, सब कर लेंगी, लेकिन जब अपने व्यंजन दूसरों को खिलाएँगी और दूसरे वाह-वाह कर उठेंगे...कैसा सुख मिलता है! और ख़ासकर जब वे महँगे उपहार भी दे जा रहे हों! वैसे भी जेवर-कपड़े-डिनरसेट, क्रॉकरी और घर की सजावट किसी को दिखाने का मौक़ा कब-कब मिलता है।

लेकिन आज का तो दिन ही ख़राब था।

सुबह केक बनाने बैठीं तो दो अण्डे ख़राब निकल गये। केक में बेकिंग पाउडर

की जगह गलती से खाने का सोडा डाल बैठीं। सारा फेंककर दोबारा बनाना पड़ा। पति को क्रीम लेने भेजा तो वह बरतन ही ले जाना भूल गये, और दूसरे चक्कर में क्रीम लेकर आये तो ख़बर लाये कि आइसिंग सुगर कहीं नहीं मिली। फिर छोलों में नमक ज़्यादा हो गया और कस्टर्ड का दूध बचाते-बचाते भी जल गया। चार चक्कर स्कूटर पर बाज़ार के लगाकर पतिदेव बगैर खाना खाये कॉलिज चले गये, क्योंकि कुकर का ढक्कन ठीक ढंग से बंद नहीं हुआ था और समय पर दाल नहीं बन सकी थी। मेकप जो सुबह हुआ था...शाम तक दोबारा नहीं हो सका था। पेपर नेपकिन लेने गया भँवरसिंह ख़ाली हाथ हिलाता लौट आया और आते ही सीता से किसी बात पर उलझ पड़ा। सीता ने चाइना ग्लास की तश्तरियाँ तोड़ दीं और कुछ खास मेहमानों के निमंत्रणपत्र जो पति कॉलेज जाते समय साथ ले जानेवाले थे– टेबल पर ही पड़े रह गये। प्याज काटते समय श्रीमती बैजल की उँगली कट गयी ऑरगंडी की साड़ी के साथ का ब्लाउज़ वाकई छोटा हो गया निकला।

लेकिन श्रीमती बैजल के दुखों का यहीं अंत नहीं था।

पति एकदम ऐन वक्त पर कालेज से लौटे और स्वीटू तो मेहमानों का आना शुरू हो चुकने पर आया। वह सुबह से चिड़चिड़ा हो रहा था...उसने कपड़े बदलने से इन्कार कर दिया और स्कूल ड्रेस ही पहने रहने की जिद करने लगा। बड़ी मुश्किल से उसे अच्छे कपड़े पहनने के लिए फुसलाया जा सका। मेहमान बहुत ही कम आये। निश्चित समय से एक घण्टे बाद भी ड्राइंग रूम में सिर्फ कुछ बच्चे और एक दो अत्यल्प परिचित पड़ोसनें ही नज़र आ रही थीं। ऐन वक्त पर रेकॉर्ड प्लेयर खराब हो गया और सुधीर उसे ठीक करने में लग गये। उनेक आमंत्रितों ने खुद न आकर सिर्फ़ अपने बच्चों को भेज दिया था जो लिपे-पुते... सहमे-सहमे से बैठे थे। न हंस-बोल रहे थे न उधम-धड़ाका कर रहे थे। वे ज्यादातर निम्नमध्यवर्गीय परिवारों के बच्चे थे जिन्हें शालीनता और तहजीब के नाम पर यही सिखाया गया था। श्रीमती बैजल बार-बार अन्दर-बाहर चक्कर लगा रही थीं और प्रफुल्लमन होने की असफ़ल और कठिन कोशिश कर रही थी। उन्होंने नाश्ते और खाने दोनों का इंतजाम किया था। योजना यह थी कि ख़ास-ख़ास पच्चीस-तीस परिवारों को खाने के लिए रोक लिया जायेगा और बाक़ी को नाश्ता कराकर विदा कर दिया जायेगा। लेकिन मेहमानों की संख्या और उनके आगमन की सुस्तरफ्तारी देखकर श्रीमती बैजल को अंदाजा हो गया था कि बहुत-सा ख़ाना बचा रह जायेगा। दिन भर सचमुच खटती रहने और इस उपलक्ष्य में अपने पति की नाराज़गी बरदाश्त करने के बाद सीता अब एकदम निठल्ली खड़ी थी –श्रीमती बैजल के भावी आदेशों की प्रतीक्षा में–और

उसका इस तरह खड़े रहना श्रीमती बैजल को और बुरा लग रहा था। रेकॉर्ड-प्लेयर ठीक करते सुधीर की उपस्थिति में आगंतुक बच्चे आतंकित जैसे लग रहे थे और स्वीटू अकेला किस-किस से बात करता! एक छोटी-सी लड़की अपनी बड़ी बहन का फ्रॉक खींचकर अभी से 'चलने' की जिद करने लगी थी और वह उसे इधर-उधर देखकर झूठा मुस्कुराते हुए बरज रही थी। बड़ी अटपटी और कठिन स्थिति होती जा रही थी।

फिर ख़ैर सुधीर के कुछ दोस्त अपने-अपने बच्चों की उँगलियाँ पकड़े आये और सुधीर रेकॉर्ड प्लेयर छोड़कर उनसे गपशप में लग गये। बच्चे भी कुछ खुले। सौभाग्य से कुछ बहुत बोलनेवाली और बोलती रहने वाली महिलाएँ भी तभी आ गयीं। और बात-बात पर जोर-जोर से हँसने लगीं। बच्चे भी माँ-बाप की अच्छी सीख और नसीहतें भूल कर आख़िर एकदम सहज हो गये। एकदम बच्चे। रोना-धोना, चिल्लपों, किलकारियाँ, हा हा हू हू... लगा कि हाँ, घर में पार्टी हो रही है। श्रीमती बैजल अब सचमुच प्रफुल्ल थीं और सीता अब सचमुच व्यस्त। सीता पुड़ियाँ उतार रही थी, भँवरसिंह नाश्ते की प्लेटें लगा रहा था और सुधीर और उनके मित्र प्रिन्सिपल और कॉलेज के किस्सों में डूबे थे। और बच्चों की आँखों में स्वीटू के खिलौनों के प्रति ईर्ष्या, उसके मालिकाना बघारने पर चिढ़ और खाने-पीने का इंतजार दिखायी देने लगा था। आख़िर वह क्षण आ ही गया जिसे पार्टी की सफलता का शिखर बिन्दु कहा जा सकता है और जिसका श्रीमती बैजल इंतजार ही कर रही थीं। बड़ी अदा और तकल्लुफ़ के साथ केक लाया गया, उस पर पाँच नन्ही-नन्ही मोमबत्तियाँ जलायी गयीं और स्वीटू बेटे को फूँक मारने को कहा गया। श्रीमती बैजल अकेली 'हैप्पी बर्ड डे टू यू...' गाने लगीं... क्योंकि और बच्चों को यह गाना नहीं आता था। वे हो ऽ ऽ करने लगे। छोटे क़द के नन्हें-मुन्ने जिन्हें न कुछ समझ में आ रहा था, न केक पर की जाती कोई हरकत नजर आ रही थी, अपनी छोटी-छोटी हथेलियों से ताली बजाने लगे। एक खूबसूरत रिबन बंधा चाकू स्वीटू को पकड़ा कर केक कटवाया गया और बच्चों के बहाने बड़ों से बैठने को कहा गया। नाश्ते की प्लेटें, फेंटा की बोतलें आने लगीं और बच्चे खाने-पीने में....छीना-झपटी में लग गये। सुधीर गुब्बारे उतार-उतारकर बच्चों में बाँटने लगे। तभी ध्यान आया कि टोपियाँ तो अन्दर के कमरे में ही रखी रह गयीं। वे लायी गयीं और एक स्वीटू को पहनाकर बाकी बाँट दी गयीं। टोपियाँ कम थीं, बच्चे ज्यादा...और स्वीटू जिद करके जो टोपी लेता, दो ही पल बाद उसे फेंककर दूसरी के लिए मचलने लगता, जो किसी और बच्चे ने लगा ली होती। वह जलसे का सबसे महत्वपूर्ण बच्चा था और आज बहुत

सुविधापूर्वक जिद्दी और चिड़चिड़ा होने की अजादी ले सकता था।

ख़ैर, लोग खाने-पीने लगे और बग़ैर तारीफ़ किये खाते रहे। काफ़ी देर श्रीमती वैजल तारीफ़ों की प्रतीक्षा करती रहीं और फिर उन्होंने कवि सम्मेलनी तुकड़ों की तरह खुद ही दाद माँगनी शुरू कर दी। 'क्यों मिसेज गोयल? छोले कैसे बने?...भाभीजी...आपने कचौड़ी को तो हाथ ही नहीं लगाया...अच्छी नहीं लगी क्या?... भई सुमन...नमकमिर्च तो सब ठीक है न?' महिलाओं ने ठंडी-ठंडी अच्छा-अच्छा की, जिससे श्रीमती वैजल और बुझ गयीं। उधर पुरुषों को मरे प्रिन्सिपल की चर्चा से अब तक फ़ुर्सत नहीं हुई थी कि जो भकोस रहे हैं उसके लिए मुँह से दो बोल भी निकाल दें कि भई ठीक है, खराब है, क्या है!

खा-पीकर सब जाने को हुए तब श्रीमती वैजल को पता चला कि उनका अंदाजा-कितना ग़लत था। इस बार पिछले साल के बनिस्बत मेहमान कम थे, पर खाना सारा सफाचट हो गया था। नदीदों-मर भुक्खों को जैसे घर पर कभी देखने को नहीं मिलता हो ऐसा खाना! वो खाते-पीते लोग थे जो अब तक उनके स्वीटू की बर्थडे पार्टी में आते रहे। और ये!...छोटे-छोटे बच्चों की खुराक तो देखो!... नहीं, वे किसी की खुराक पर टोकाटोकी नहीं करती...उनका ये मतलब नहीं...आखिर वे खुद भी तो ऐसे ही साधारण परिवार से आयी हैं... उनके बाउजी क्या थे? नगरपालिका में क्लर्क ही तो थे।...जीमण वगैरह में कभी वो आठों बहन-भाई जाते तो किस कदर ठूँसते थे...और बाद में तीन दिन तक अफ़सोस करते थे...कि कुछ मिठाई और क्यों नहीं खा ली?...पर जीमण की बात और है...उसमें पता नहीं चलता...पर पार्टी में तो कम से कम...क्या फायदा...रात भर बच्चे लोटा ले-लेकर भागेंगे...क्या पता...कई अभी ही चड्डी उतारकर न आ जायें...आंटीजी हमें...

खैर किसी तरह पार्टी निबटी। मेहमान...सुखी और संतुष्ट...दाँत कुरेदते हुए...और डकारें लेते हुए...और सुपारी-इलायची के मुट्ठे भरते हुए चले गये। चलो। शान्ति मिली। सीता को चाय का पानी रखने को कहकर श्रीमती वैजल सुधीर के साथ उपहारों के पैकेट देखने सम्हालने बैठीं। ...कितनी तृप्ति मिलती है जब...लेकिन इस बार उनकी आशा से एक चौथाई उपहार भी नहीं थे। अब श्रीमती वैजल को पता चला...और उन्हें यह जानकर धक्का लगा...कि कई मेहमान बगैर कोई उपहार लाये...खाली हाथ हिलाते हुए आ गये थे। और न ही....न उन्होंने स्वीटू के हाथ में पाँच का नोट दिया...न सुधीर को... और खा-पीकर हाथ झाड़कर चले भी गये। खैर पर...जो लाये हैं, उन्हें तो देखा जाय।

अब श्रीमती वैजल छोटे-छोटे उपहारों के पार्सल खोल-खोलकर देखती जाती थी और उनका दुख बढ़ता जाता था। उनकी बाँह पर रक्तचाप नापक लगा होता तो वह हर पैकेट के अनावरण के बाद नीचे-नीचे खिसक रहा होता। अधिकांश लोगों ने गोली-चॉकलेट या सस्ते प्लास्टिक के खिलौनों से बला टाली थी। कुछ ने हैंडलूम या पॉलिस्टर के सस्ते फुटपाथिया कटपीस भेज दिये थे। और कुछ गधों ने तो दो-दो ग्लूकोज बिस्कुटों के पैकेट ही पतंग के काग़ज में बांधकर बच्चों के हाथ भिजवा दिये थे। हाय! कैसे असभ्य, दुच्चे, जाहिल लोगों में आ फंसी श्रीमती वैजल!

उन्हें अब भी—अब भी यह पता नहीं चला कि वे कौन लोग थे जो पिछले वर्षों में स्वीटू के लिए महँगे-महँगे उपहार लाते थे? और क्यों?

सब छोड़-छाड़कर सोफ़े की पीठ से सिर लगा, बाल खोल श्रीमती वैजल पसर गयीं। आँखें बन्द कर लीं। सिर, दर्द के मारे फटा जा रहा था।

तभी बाहर से किसी ने आवाज मारी, 'स्वीटू भाय!'

कोई भारी पुरुष स्वर। श्रीमती वैजल की त्यौरियाँ चढ़ गयीं। कौन है?

सुधीर 'कौन है' कहकर उठे...और अभी उठ भी नहीं पाये होंगे कि भीतर के कमरे से सरपट दौड़ता हुआ 'हो ऽ ऽ' चिल्लाता हुआ स्वीटू निकला और उनके सामने से पूरा ड्राइंगरूम दौड़कर पार करता हुआ बाहर निकल गया।

सुधीर उठे। बाहर गये। कुछ पल बाद वापस आये। बताया, 'बन्ने है।'

— 'कौन बन्ने?'

— स्वीटू का ताँगेवाला। स्वीटू के स्कूल का ताँगेवाला।

श्रीमती वैजल ने बैगर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किये फिर आँखें बंद कर लीं।

सुधीर बाहर गये। फिर भीतर आये। सहमते हुए-से बोले-एक प्लेट लगवा दो।

फुरती से उठीं श्रीमती वैजल और भौंहें चढ़ाकर बोलीं, 'बाहर ही भिजवा देती हूँ।'

तभी बाहर से स्वीटू का उल्लास भरा हो...ओ...ओ, बन्ने की पहलवानी हँसी...और दो छोटे हाथों की...दो बड़े हाथों की सम्मिलित तालियों की आवाज़ सुनाई दी...जैसे पखावज-संतूर की जुगलबंदी।

श्रीमती वैजल किचन में गयीं। एक प्लेट उठायी। देखा नहीं कि जूठी है या साफ़। क्या फ़र्क पड़ता है! मुसट्टा तो है! बिना बुलाये आ गया। एक-एक करके मरे मन से प्लेट में सारी चीजें रखीं। केक... बेफ़र्स...समोसा...गुलाब...गुलाबजामुन का

मर्तबान ख़ाली पड़ा था। उन्होंने चखा तक नहीं जबकि। सुधीर ने भी नहीं। ज़रूर सीता ले गयी होगी—भँवरसिंह के लिए। प्लेट ख़ाली-खाली लग रही थी। समोसा कुचल गया था और काला पड़ गया था। वेफ़र्स में आधे से ज्यादा चूरा था। इधर-उधर देखा। किसी बच्चे की छोड़ी हुई प्लेट में एक साबुत गुलाबजामुन पड़ा था। श्रीमती बैजल ने उसी को उठाकर प्लेट में धर लिया और प्लेट लेकर पल्ला सम्हालती हुई बाहर निकलीं।

स्वीटू उस हट्टे-कट्टे दाढ़ी वाले ताँगे वाले की गोद में था और उसकी गरदन में गेंदे के फूलों की बड़ी-सी माला पड़ी हुई थी। दाढ़ीवाला डाकुओं की तरह सफ़ेद-सफ़ेद दाँत दिखाता हँस रहा था। इसने नमस्ते की। श्रीमती बैजल ने प्लेट बढ़ाई। डाकू ने स्वीटू को उतारकर प्लेट पकड़ी...और उसमें से गुलाबजामुन उठाकर...श्रीमती बैजल कुछ बोलें-बोलें उससे पहले ही...स्वीटू के खुले मुँह में रख दिया। स्वीटू खुश होकर फुदकने लगा। श्रीमती बैजल भीतर आ गयीं और धम्म से सोफ़े पर गिर गयीं। आज जूठन भी खानी थी हमारे स्वीटू को।

घंटे भर बाद स्वीटू घर में इधर से उधर धमाचौकड़ी कर रहा था। पापा को चौथी बार बता रहा था कि उसने सुबह ही बन्ने भाय से कह दिया था कि 'शाम को जरूर-जरूर-जरूर आना, आज शाम को हमारी बर्डे होगी।' और उसकी गरदन में अब भी गेंदे के फूलों का बड़ा-सा हार पड़ा था जो बन्ने उसके लिए लाया था और जिसे पहनाते-पहनते बक्त दोनों ने तालियाँ बजायी थी—जैसे पखावज और संतूर की जुगलबंदी।

और जूठे बरतनों के पहाड़ के सामने बैठीं श्रीमती बैजल सोच रही थी कि उनकी तो किस्मत ही खराब है।